वार्षिक रु. ५०/-　　मूल्य रु. ६.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४४ अंक ५　मई २००६　मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २००६

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४४
अंक ५

वार्षिक ५०/-   एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१९७५३५
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(८) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनि-आर्डर** से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४४ **मई २००६** **अंक ५**

वैराग्य-शतकम्

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इव परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः ।।५३ ।।

अन्वय – वयम् इह वल्कलैः परितुष्टाः, त्वं दुकूलैः, परितोषः सम इव, निर्विशेषः विशेषः, तु यस्य तृष्णा विशाला सः दरिद्रः भवतु, मनसि च परितुष्टे अर्थवान् कः? दरिद्रः कः?

भावार्थ – हे राजन् ! इस जगत् में हम वृक्ष की छालों से बने कौपीन से सन्तुष्ट हैं और तुम बेशकीमती पोशाकों से, परन्तु हमारी सन्तुष्टि समान ही है, अतः यह भेद निरर्थक है। वस्तुतः वही निर्धन है, जिसके मन में अथाह तृष्णा है। मन के सन्तुष्ट हो जाने पर धनवान भी भला कौन है और निर्धन भी कौन है? अर्थात् सन्तोष ही सबसे महान् धन है।

फलमलमशनाय स्वादु पानाय तोयं
क्षितिरपि शयनार्थं वाससे वल्कलं च ।
नवधनमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणा-
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ।।५४ ।।

अन्वय – अशनाय फलम् अलम्, पानाय स्वादु तोयम्, शयन-अर्थं क्षितिः अपि, वाससे वल्कलं च, (अतएव) नव-धन-मधुपान-भ्रान्त-सर्व-इन्द्रियाणां दुर्जनानाम् अविनयम् अनुमन्तुं न उत्सहे ।

अर्थ – हमारे भोजन के लिए यथेष्ट फल हैं, प्यास मिटाने हेतु स्वादिष्ट जल है, सोने को भूतल है और शरीर ढँकने के लिए वल्कल की कमी नहीं है। अतः हम विभ्रान्तचित्त कुपथगामी नव-धनाढ्यों का अनादर तथा उपेक्षापूर्ण व्यवहार न सहेंगे।

अशीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि ।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः ।।५५।।

अन्वय – वयं भिक्षाम् अशीमहि, आशा-वासः वसीमहि, महीपृष्ठे शयीमहि, ईश्वरैः किं कुर्वीमहि ।

अर्थ – हम लोग भिक्षान्न का भोजन करेंगे, आकाश का वस्त्र धारण करेंगे और पृथ्वी तल पर शयन करेंगे। फिर हमें राजा लोगों से क्या लेना-देना?

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(केदार–एकताल)

हे दयालु रामकृष्ण, चरण-शरण दो,
निज कृपा-कटाक्ष से, दोष-दुख हरो ।।

तुम ही धर्म, तुम ही अर्थ, तुम ही काम हो,
तुम ही भुक्ति-मुक्ति रूप, पुण्य धाम हो ।।

तुम ही शान्ति, तुम ही ज्ञान, तुम ही ध्यान हो,
तुम ही भक्ति, तुम ही शक्ति, सुख-निधान हो ।।

तुम ही जन्म, तुम ही मृत्यु, तुम ही व्याधि हो,
तुम ही नाम-रूप-आदि सब उपाधि हो ।।

तुम ही नरक, तुम ही स्वर्ग, तुम ही मर्त्य हो,
तुम 'विदेह' जगत् रूप, तुम ही सर्व हो ।।

– २ –

(केदार–कहरवा)

फिर अवतार लिया प्रभु तुमने,
अवनी-तल पर आये,
अभिनव धर्ममार्ग दिखलाया,
जनमानस पर छाये ।।

फैला था घनघोर अँधेरा,
तुम आये तो हुआ सबेरा,
उदय हुआ रवि प्राची नभ में,
ज्योति फैलती जाये ।।

सुनकर बचनामृत का डंका,
भाग चले नास्तिकता शंका,
हो कृतकृत्य निहाल जगत्-जन,
मंगल कीरत गाये ।।

जीवन में है व्याप्त जटिलता,
जन-मन में दुख और विफलता,
कृपादृष्टि तव हुई सभी ने,
शान्ति और सुख पाये ।।

– *विदेह*

आम जनता की शिक्षा (४)

स्वामी विवेकानन्द

सामाजिक जीवन में एक विशेष काम मैं कर सकता हूँ, तो दूसरा काम तुम कर सकते हो। तुम एक देश का शासन चला सकते हो, तो मैं एक पुराने जूते की मरम्मत कर सकता हूँ, परन्तु इसी कारण तुम मुझसे बड़े नहीं हो सकते। क्या तुम मेरे जूते की मरम्मत कर सकते हो? मैं क्या देश का शासन चला सकता हूँ? यह कार्यविभाग स्वाभाविक है। मैं जूते की सिलाई करने में चतुर हूँ, तुम वेदपाठ में निपुण हो, परन्तु यह कोई कारण नहीं कि इस विशेषता के कारण तुम मेरे सिर पर पाँव रखो। तुम यदि हत्या भी करो, तो प्रशंसा हो और मुझे एक सेव चुराने पर ही फाँसी पर लटकना पड़े। इसे बन्द करना होगा। जाति-विभाग अच्छा है। जीवन-समस्या के समाधान के लिए यही एकमात्र स्वाभाविक उपाय है। मनुष्य अलग-अलग वर्गों में विभक्त होंगे, यह अनिवार्य है। तुम जहाँ भी जाओ, जाति-विभाग से छुटकारा न मिलेगा; पर इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार का विशेषाधिकार भी रहे। उन्हें जड़ से उखाड़ फेंकना होगा। यदि तुम मछुए को वेदान्त सिखाओगे, तो वह कहेगा – हम और तुम, दोनों बराबर हैं। तुम दार्शनिक हो, मैं मछुआ; पर इससे क्या? तुम्हारे भीतर जो ईश्वर है, वही मुझमें भी है। हम यही चाहते हैं कि किसी को कोई विशेष अधिकार प्राप्त न हो और हर व्यक्ति को उन्नति के लिए समान सुविधाएँ प्राप्त हों।[३४९]

ज्ञान पर केवल कुछ शिक्षित लोगों का ही एकाधिकार नहीं रहना चाहिए। वह ऊपर से नीचे तक – सभी वर्गों में फैलायी जायेगी। शिक्षा आयेगी और इसके बाद सबके लिये अनिवार्य शिक्षा आयेगी। हमारी आम जनता में कार्य कर सकने की जो महान् क्षमता है, उसका उपयोग किया जायेगा। भारत की अपार सम्भावनाओं को प्रस्फुटित किया जायेगा।[३५०]

भौतिकता, यहाँ तक कि विलासिता की भी जरूरत है – क्योंकि उससे गरीबों को काम मिलता है। रोटी ! रोटी ! मुझे इस बात का विश्वास नहीं कि जो भगवान यहाँ रोटी नहीं दे सकता, वह स्वर्ग में मुझे अनन्त सुख देगा ![३५१] खान-पान, चाल-चलन, भाव-भाषा सबमें तेजस्विता लानी होगी। सब ओर प्राण-संचार करना होगा। नस-नस में रक्त-प्रवाह तेज करना होगा, ताकि सब विषयों में प्राणों का स्पन्दन हो; तभी घोर जीवन-संग्राम में देश के लोग बच सकेंगे। नहीं तो शीघ्र ही इस देश व जाति को मृत्यु की छाया ढँक लेगी।[३५२]

शक्ति-संचार जरूरी है

तुम्हें इस बात का यत्न करना चाहिए कि तुम्हारे जीवन में उच्च आदर्श तथा उत्कृष्ट व्यावहारिकता का सुन्दर सामंजस्य हो।[३५३] जीवन का अर्थ ही विस्तार यानी प्रेम है। इसलिए प्रेम ही जीवन है, यही जीवन का एकमात्र नियम है और स्वार्थपरता ही मृत्यु है।[३५४] इस समय चाहिए – गीता में जो भगवान ने कहा है – प्रबल कर्मयोग – हृदय में अमित साहस, अपरिमित शक्ति। तभी तो देश में सब लोग जाग उठेंगे नहीं तो जिस अन्धकार में तुम हो, उसी में वे भी रहेंगे।[३५५] मेरा विश्वास युवा पीढ़ी में, नयी पीढ़ी में है। मेरे कार्यकर्ता उनमें से आयेंगे। सिंहों की भाँति वे समस्त समस्या का हल निकालेंगे।[३५६]

महान् कार्यों के लिये जरूरी है –
(क) हृदयवत्ता

बड़े काम करने के लिए तीन चीजों की आवश्यकता होती है। पहला है हृदय की अनुभव-शक्ति। बुद्धि या विचार-शक्ति में क्या है? वह तो कुछ दूर जाती है और बस वहीं रुक जाती है। पर हृदय तो प्रेरणा-स्रोत है? प्रेम असम्भव द्वारों को भी उद्घाटित कर देता है। यह प्रेम ही जगत् के सब रहस्यों का द्वार है। अतएव, ऐ मेरे भावी सुधारको, मेरे देशभक्तो, तुम अनुभव करो। क्या तुम अनुभव करते हो? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशुतुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं, और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति भूखों मरते आये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढँक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर बेचैन हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुमको निद्राहीन कर दिया है? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती है? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गयी है? क्या उसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या इस चिन्ता में विभोर हो जाने से तुम अपने नाम-यश, पुत्र-कलत्र, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुध बिसार चुके हो? क्या तुमने ऐसा किया है? यदि 'हाँ', तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है।[३५७]

(ख) व्यवहार-कुशलता

माना कि तुम अनुभव करते हो; पर पूछता हूँ, क्या केवल व्यर्थ की बातों में शक्तिक्षय न करके इस दुर्दशा का निवारण करने के लिए तुमने कोई यथार्थ कर्तव्य-पथ निश्चित किया है? तुमने लोगों की निन्दा छोड़कर उनकी सहायता का कोई उपाय सोचा है? क्या स्वदेश-वासियों को उनकी इस जीवन्मृत अवस्था से बाहर निकलने के लिए कोई मार्ग ठीक किया है? क्या उनके दुखों को कम करने के लिए दो सांत्वनादायक शब्दों को खोजा है?[३५८] पुराने विचार भले ही अन्धविश्वासों पर निर्भर हों, पर इन अन्धविश्वासों में भी स्वर्णमय सत्य के कण विद्यमान हैं। सब अनावश्यक बातों को छोड़कर केवल उस स्वर्ण-रूपी सत्य को पाने के लिए तुमने कोई उपाय सोचा है? और यदि तुमने वैसा कर लिया है, तो जान लो कि तुमने दूसरी सीढ़ी पर पैर रखा है।[३५९]

(ग) प्राणपण से अध्यवसाय

और भी एक चीज की आवश्यकता है – अटल अध्यवसाय की। तुम्हारा असल अभिप्राय क्या है? क्या तुम्हें इस बात का पूरा विश्वास है कि तुम्हें सम्पत्ति का लोभ नहीं है, कीर्ति की लालसा नहीं है और अधिकार की आकांक्षा नहीं है?[३६०] क्या तुम पर्वताकार विघ्न-बाधाओं को लाँघकर कार्य करने के लिए तैयार हो? यदि सारी दुनिया हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ी हो जाय, तो भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे? यदि तुम्हारे पुत्र-कलत्र तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ, भाग्य-लक्ष्मी तुमसे रूठकर चली जाय, यश-कीर्ति भी तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो भी क्या तुम उस सत्य में लगे रहोगे? फिर भी क्या तुम उसके पीछे लगे रहकर सतत अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहोगे? जैसा कि महान् राजा भर्तृहरि ने कहा है, "चाहे नीतिनिपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी आय या जहाँ उसकी इच्छा हो चली जाय, मृत्यु आज हो या सौ वर्ष बाद, धीर पुरुष तो वह है जो न्याय के पथ से तनिक भी विचलित नहीं होता।" क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है?[३६१]

यदि तुममें ये तीनों गुण हैं, तो वास्तव में तुम एक सच्चे सुधारक, मार्ग-प्रदर्शक, गुरु और मनुष्य जाति के लिए वरदान स्वरूप हो। परन्तु मनुष्य कैसा उतावला तथा अदूरदर्शी है ! उसमें प्रतीक्षा करने का धैर्य नहीं है, न उसमें देख सकने की शक्ति है – वह तत्काल ही फल को देखना चाहता है, वास्तव में दूसरों पर सत्ता जमाना ही उसका अभिप्राय है। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि वह कार्य का फल स्वयं ही लेना चाहता है और यथार्थ में दूसरों की परवाह नहीं करता। केवल कर्म के लिए ही कर्म करना वह नहीं चाहता। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है, 'तुम्हें केवल कर्म करने का ही अधिकार है, कर्मफल में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं – **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**। कर्मफल में हम क्यों आसक्त हों? केवल कर्म करना ही हमारा कर्तव्य है। कर्मफल के सम्बन्ध में हम तनिक भी चिन्ता क्यों करें? परन्तु मनुष्य को धैर्य नहीं रहता। वह विचारपूर्वक न सोचकर मनमाना कोई भी काम करने लगता है। संसार के अधिकांश सुधारक इसी श्रेणी में गिने जा सकते हैं।[३६२]

(घ) सजीव ईश्वर की उपासना – नर में नारायण-सेवा

शक्ति क्या कोई दूसरा देता है? वह तेरे भीतर ही मौजूद है। समय आने पर वह स्वयं ही प्रकट होगी। काम में लग जाओ; फिर देखोगे, इतनी शक्ति आयेगी कि तुम उसे सँभाल नहीं सकोगे। दूसरों के लिए रत्ती भर काम करने से भीतर की शक्ति जाग उठती है। दूसरों के लिए रत्ती भर सोचने से धीरे-धीरे हृदय में सिंह-सा बल आ जाता है। तुम लोगों से मैं इतना स्नेह करता हूँ, परन्तु यदि तुम लोग दूसरों के लिए परिश्रम करते-करते मर भी जाओ, तो भी यह देखकर मुझे प्रसन्नता ही होगी।[३६३] भारतमाता कम-से-कम हजार युवकों का बलिदान चाहती है – मस्तिष्क वाले युवकों का, पशुओं का नहीं। ... भारत ऐसे कितने निःस्वार्थी और सच्चे युवक देने के लिए तैयार है, जो गरीबों के साथ सहानुभूति रखने के लिए, भूखों को अन्न देने के लिए और सर्वसाधारण में नव-जागृति का प्रचार करने के लिए प्राणों की बाजी लगाकर प्रयत्न करने को तैयार हैं और साथ ही उन लोगों को, जिन्हें तुम्हारे पूर्वजों के अत्याचारों ने पशुतुल्य बना दिया है, मानवता का पाठ पढ़ाने के लिए अग्रसर होंगे?[३६४]

तुमने पढ़ा है – **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव** – अपनी माता को ईश्वर समझो, अपने पिता को ईश्वर समझो – पर मैं कहता हूँ – **दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव** – गरीब, निरक्षर, मूर्ख और दुखी, इन्हें अपना ईश्वर मानो। इनकी सेवा करना ही परम धर्म समझो।[३६५] ईश्वर को कहाँ ढूँढ़ने चले हो – ये गरीब, दुखी, दुर्बल क्या ईश्वर नहीं हैं? इन्हीं की पूजा पहले क्यों नहीं करते? गंगा-तट पर कुआँ खोदने क्यों जाते हो? प्रेम की असाध्य-साधिनी शक्ति पर विश्वास करो।[३६६]

बहु रूपों से खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ हैं ईश?
व्यर्थ खोज यह,
जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।[३६७]

यदि ईश्वरोपासना करने हेतु प्रतिमा जरूरी है, तो उससे कहीं श्रेष्ठ मानव-प्रतिमा मौजूद ही है। यदि ईश्वरोपासना के लिए मन्दिर बनाना चाहते हो, तो करो किन्तु सोच लो कि उससे भी उच्चतर, उससे भी महान् मानव-देह-रूपी मन्दिर तो पहले से ही मौजूद है। ... तुम लोग वेदी बनाते हो, परन्तु मेरे लिये तो जीवित चेतन मनुष्य देहरूपी वेदी वर्तमान है और इस मनुष्य देहरूपी वेदी पर की गयी पूजा, दूसरी अचेतन मृत जड़ प्रतीक की पूजा की अपेक्षा श्रेष्ठ है।[३६८]

आशा तुम लोगों से है – जो विनीत, निरभिमानी और विश्वास-परायण हैं। ईश्वर के प्रति आस्था रखो। किसी चालबाजी की जरूरत नहीं; उससे कुछ नहीं होता। दुखियों का दर्द समझो और ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करो – वह अवश्य मिलेगी। ... जाओ, इसी क्षण जाओ, उस पार्थसारथी (श्रीकृष्ण) के मन्दिर में, जो गोकुल के दीन-हीन ग्वालों के सखा थे, जो गुहक चाण्डाल को भी गले लगाने में नहीं हिचके, जिन्होंने अपने बुद्धावतार-काल में अमीरों का निमन्त्रण अस्वीकार कर एक वारांगना के भोजन का निमंत्रण स्वीकार किया और उसे उबारा; जाओ उनके पास, जाकर साष्टांग प्रणाम करो और उनके सम्मुख एक महाबलि दो, अपने समस्त जीवन की बलि दो – उन दीन-हीनों और उत्पीड़ितों के लिए, जिनके लिए भगवान युग-युग में अवतार लिया करते हैं, और जिन्हें वे सबसे अधिक प्यार करते हैं। और तब प्रतिज्ञा करो कि अपना सारा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार-कार्य में लगा दोगे, जो दिनो-दिन अवनति के गर्त में गिरते जा रहे हैं।[३६९] जो उनकी सेवा के लिए – नहीं, उनकी नहीं, वरन् उनके पुत्र – दीन-दरिद्रों, पापियों-तापियों, कीट-पतंगों तक की सेवा के लिए तैयार रहेंगे, उन्हीं में उनका आविर्भाव होगा। उनके मुख पर सरस्वती बैठेंगी, उनके हृदय में महामाया महाशक्ति आकर विराजित होंगी।[३७०]

आगामी पचास वर्ष के लिए यह जननी जन्मभूमि भारत-माता ही मानो आराध्य देवी बन जाय। तब तक के लिए हमारे मस्तिष्क से व्यर्थ के देवी-देवताओं के हट जाने में कुछ भी हानि नहीं है। अपना सारा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ, हमारा देश ही हमारा जाग्रत देवता है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे हैं। जिन व्यर्थ के देवी-देवताओं को हम देख नहीं पाते, उनके पीछे तो हम बेकार दौड़े और जिस विराट् देवता को हम अपने चारों ओर देख रहे हैं, उसकी पूजा ही न करें? जब हम इस प्रत्यक्ष देवता की पूजा कर लेंगे, तभी हम दूसरे देव-देवियों की पूजा करने योग्य होंगे, अन्यथा नहीं। आधा मील चलने की हमें शक्ति ही नहीं और हम हनुमान जी की भाँति एक ही छलाँग में समुद्र को पार करने की इच्छा करें, ऐसा नहीं हो सकता। जिसे देखो वही योगी बनने की धुन में है, जिसे देखो वही समाधि लगाने जा रहा है! ऐसा नहीं होने का। दिन भर तो दुनिया के सैकड़ों प्रपंचों में लिप्त रहोगे, कर्मकाण्ड में व्यस्त रहोगे और शाम को आँख मूँदकर, नाक दबाकर साँस चढ़ाओ-उतारोगे। क्या योग की सिद्धि और समाधि को इतना सहज समझ रखा है कि ऋषि लोग, तुम्हारे तीन बार नाक फड़फड़ाने और साँस चढ़ाने से हवा में मिलकर तुम्हारे पेट में घुस जायेंगे? क्या इसे तुमने कोई हँसी-मजाक मान लिया है? ये सब विचार वाहियात हैं। जिसे ग्रहण करने या अपनाने की आवश्यकता है, वह है चित्तशुद्धि। और उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि सबसे पहले उस विराट् की पूजा करो, जिसे तुम अपने चारों ओर देख रहे हो – 'उसकी' पूजा करो। 'वर्शिप' ही इस संस्कृत शब्द का ठीक समानार्थक है, अंग्रेजी के किसी अन्य शब्द से काम नहीं चलेगा। ये मनुष्य और पशु, जिन्हें हम आस-पास और आगे-पीछे देख रहे हैं, ये ही हमारे ईश्वर हैं। इनमें सबसे पहले पूज्य हैं हमारे देशवासी। परस्पर ईर्ष्या-द्वेष करने और झगड़ने के बजाय हमें उनकी पूजा करनी चाहिए।[३७१]

तो आओ भाइयो! साहसपूर्वक इसका सामना करो। कार्य गुरुतर है और हम लोग साधनहीन हैं। तो भी हम अमृतपुत्र और ईश्वर की सन्तान हैं। प्रभु की जय हो, हम अवश्य सफल होंगे! इस संग्राम में सैकड़ों खेत रहेंगे, पर सैकड़ों पुन: उनकी जगह खड़े हो जायेंगे। सम्भव है कि मैं यहाँ विफल होकर मर जाऊँ, पर कोई और यह काम जारी रखेगा। तुम लोगों ने रोग जान लिया और दवा भी, अब बस, विश्वास रखो। ... विश्वास, विश्वास, सहानुभूति, अग्निमय विश्वास, अग्निमय सहानुभूति। जय हो प्रभु की! जीवन तुच्छ है, मरण भी तुच्छ है! भूख तुच्छ है, ठण्ड तुच्छ है! जय हो प्रभु की! आगे कूच करो – प्रभु ही हमारे सेनानायक हैं। पीछे मत देखो। कौन गिरा, पीछे मत देखो – आगे बढ़ो, बढ़ते चलो! भाइयो, इसी तरह हम आगे बढ़ते जायेंगे – एक गिरेगा, तो दूसरा वहाँ डट जायेगा।[३७२]

सुदीर्घ रजनी अब समाप्त होती हुई जान पड़ती है। महा-दुख का प्राय: अन्त ही प्रतीत होता है। महानिद्रा में निमग्न शव मानो जाग्रत हो रहा है। इतिहास की बात तो दूर रही, जिस सुदूर अतीत के घनान्धकार को भेद करने में जनश्रुतियाँ भी असमर्थ हैं, वहीं से एक आवाज हमारे पास आ रही है। ज्ञान-भक्ति और कर्म के अनन्त हिमालय-स्वरूप हमारी मातृभूमि भारत की हर एक चोटी पर प्रतिध्वनित होकर, यह आवाज मृदु तथा दृढ़ परन्तु अभ्रान्त स्वर में हमारे पास तक आ रही है। जितना समय बीतता है, उतनी ही वह और भी स्पष्ट तथा गम्भीर होती जाती है – और देखो, वह निद्रित भारत अब जागने लगा है। मानो हिमालय के प्राणप्रद वायु-स्पर्श से मृतदेह के शिथिलप्राय अस्थि-मांस तक में प्राण-संचार हो रहा है। जड़ता धीरे-धीरे दूर हो रही है। जो अन्धे हैं, वे ही देख नहीं सकते और जो विकृत-बुद्धि हैं वे समझ नहीं सकते कि हमारी मातृभूमि अपनी गम्भीर निद्रा से अब जाग रही है। अब कोई उसे रोक नहीं सकता। अब यह फिर सो नहीं सकती। कोई बाह्य शक्ति इस समय इसे दबा नहीं सकती क्योंकि यह असाधारण शक्ति का देश अब जागकर खड़ा हो रहा है।[३७३] (सन्दर्भ-सूची पृ. २१८ पर) ❖ **(समाप्त)** ❖

दुराग्रह का दोष

स्वामी आत्मानन्द

दुराग्रह एक मानसिक रोग है। इसे दूसरे शब्दों में 'हठधर्मिता' कहा जा सकता है। इसका कारण होता है – अपने विश्वास को तर्क की कसौटी पर न कसना। दूसरे शब्दों में, दुराग्रह के पीछे मनुष्य का अन्धविश्वास होता है। मनुष्य में केवल विश्वास ही न हो, अपितु वह विश्वास युक्तिसंगत भी हो। यदि मनुष्य को सभी कुछ मानने और करने पर बाध्य किया जाय, तो उसे पागल हो जाना पड़ेगा। स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक भाषण में एक महिला का उदाहरण दिया है, जिसने उनके पास एक पुस्तक भेजी थी। उसमें लिखा था कि उसमें लिखी बातों पर उन्हें विश्वास करना चाहिए। पुस्तक में बतलाया गया था कि आत्मा नामक कोई चीज नहीं है, परन्तु स्वर्ग में देवी-देवता हैं और हममें से प्रत्येक के सिर में से ज्योति की एक किरण निकलकर स्वर्ग तक पहुँचती है। स्वामीजी कहते हैं कि उस महिला की धारणा थी कि उसे दिव्य प्रेरणा मिली है और वह चाहती थी कि मैं भी उस पर विश्वास करूँ; और चूँकि मैंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, तो उसने कहा - "तुम निश्चय ही बड़े खराब आदमी हो, तुम्हारे लिए कोई आशा नहीं !" यही दुराग्रह है।

दुराग्रह के पीछे मनुष्य का सहज औद्धत्य-भाव रहता है। छोटा बच्चा बड़ा दुराग्रही होता है, पर जैसे जैसे वह बड़ा होता है, उसका मानसिक विकास होता जाता है। वह किसी वस्तु या घटना को तब केवल अपने नजरिये से नहीं देखता, अपितु दूसरे के नजरिये का भी सम्मान करना सीखता है। इसलिए उसमें दुराग्रह की मात्रा कम होती जाती है। इसे सुविख्यात जीवशास्त्री जूलियन हक्सले 'मनो-सामाजिक विकास' (psycho-social growth) कहकर पुकारते हैं। वे तीन प्रकार के विकास की बात कहते हैं। पहला है – physical growth यानी भौतिक अर्थात् शारीरिक विकास। दूसरा है – intellectual growth अर्थात् बौद्धिक विकास और तीसरा है – psycho-social growth अर्थात् मनो-सामाजिक विकास। भौतिक या शारीरिक विकास की बात हम समझते हैं। एक शिशु जब पैदा होता है, तब उसकी ऊँचाई-लम्बाई शायद डेढ़ फुट हो, वजन शायद ७-८ पौंड हो, पर जब वही आगे चलकर २५ वर्ष का नौजवान बनता है, तब शायद उसकी ऊँचाई ६ फुट हो जाय और वजन २०० पौंड। यह भौतिक या शारीरिक विकास है। बौद्धिक विकास की बात भी समझ में आती है। गाँव के विद्यालय से शहर के महाविद्यालय में पढ़ने आया लड़का पहले दब्बूपने के कारण सहमा-सहमा रहता है, बोलने में भी झेंपता है; पर जब धीरे-धीरे शहर के वातावरण का अभ्यस्त हो जाता है, शहरी परिवेश उसमें आत्मविश्वास को जगाने लगता है, तो फिर वही लड़का छात्रसंघ के चुनावों में भी भाग लेता है, अपने विचारों को अभिव्यक्त करना सीख जाता है। यह बौद्धिक विकास की सूचना है।

अब विकास के तीसरे आयाम 'मनो-सामाजिक विकास' को समझने के लिए हम एक उदाहरण लेंगे। एक छोटा-सा लड़का ७-८ वर्ष का अपने विद्यालय से लौटकर घर आया। वह घर में घुसते ही चिल्लाते हुए कहता है – 'माँ, खाना दो।' माँ यदि बीमार है, खाट से उठ नहीं पा रही है और कहती है – 'बेटा, खाना वहाँ रखा है, निकालकर खा ले। मुझे जोरों का बुखार है, उठा नहीं जा रहा है।' तो लड़का चीख-चीखकर कहता है – 'नहीं, उठो, तुम मुझे खाना दो।' और तब तक चिल्लाना बन्द नहीं करता, जब तक माँ उठकर उसे खाना नहीं देती। यह छोटा-सा बालक केवल अपने लिए ही जीता है, उसे दूसरों के दुःख, दूसरों की पीड़ा की परवाह नहीं है। वह दुराग्रही है। उसमें 'मनो-सामाजिक विकास' नहीं हुआ है। पर जब वही बालक बढ़कर किशोर हो जाता है, तब उसकी सहानुभूति की क्षमता बढ़ जाती है, दूसरों का दुःख-दर्द उसे अपना मालूम पड़ने लगता है। जब वह विद्यालय से घर लौटता है और माँ को खाट में पड़े देखता है, तो पूछता है – 'माँ, तुम्हें क्या हुआ?' माँ के शरीर पर हाथ लगाकर देखता है कि उसे तेज बुखार है। माँ उठते हुए कहती है – 'चल, तुझे खाना दे दूँ।' पर वह रोक देता है, माँ को सुला देता है, कहता है – 'माँ, तुम मत उठो, क्या करना है सो बता दो, मैं सब कर लूँगा, तुम आराम करो।' वह माँ की सेवा करता है, डॉक्टर को बुला लाता है, माँ को दवा-पथ्य देता है। यह उस लड़के का मनो-सामाजिक विकास है।

दुराग्रही व्यक्ति मनो-सामाजिक विकास से वंचित होता है। वह शारीरिक विकास के कारण शिशु से प्रौढ़ तो हो जाता है, परन्तु मनो-सामाजिक विकास के अभाव में वह शिशु के समान ही दुराग्रही रह जाता है। आजकल के मनो-चिकित्सकों के अनुसार सौ में से नब्बे दुराग्रहियों का या तो यकृत खराब होता है, या वे मन्दाग्नि अथवा किसी अन्य रोग से पीड़ित रहते हैं। व्यक्ति का मनो-सामाजिक विकास ही दुराग्रह की दवा है। ❖ ❖ ❖

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (७/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

लोचन चातक जिन्ह राखे करि
रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ।।
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी ।
रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ।।
तिन्हके हृदय सदन सुखदायक ।
बसहु बन्धु सह सिय रघुनायक ।। २/१२८/६-८

– "जिन्होंने अपने नेत्रों को चातक बना रखा है, जो सदा आपके दर्शन रूपी मेघों के लिये आकुल रहते हैं और जो विशाल नदियों, समुद्रों तथा सरोवरों का अनादर करते हुए आपके रूप-सौन्दर्य के एक बूँद से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, हे रघुनायक, आप उनके सुखदायी हृदय रूपी भवनों में बन्धु लक्ष्मण तथा जानकीजी के साथ निवास करें।"

रामकथा अपने आप में अनुपम है और वह जहाँ भी कही जाती है, वहाँ वह आनन्दमय वातावरण की सृष्टि करती है। पर इस आध्यात्मिक आश्रम में उसका आनन्द शतगुणित हो जाता है। क्योंकि इस आयोजन के पीछे रजोगुण का रंचमात्र भी लेश नहीं है। आश्रम के इस पवित्र सात्त्विक आध्यात्मिक वातावरण में, जहाँ निरन्तर अगणित सेवाकार्य होते रहते हैं, जहाँ विचारों को क्रिया में परिणत किया जाता है, वहाँ बोलने का आनन्द और भी विलक्षण है। और परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराज यद्यपि यहाँ के कार्यक्रम के विषय में मुझे ही छूट दे देते हैं कि मैं अपनी सुविधा का समय दूँ, पर जब भी मुझे अनुभव होता है कि इससे कुछ व्यतिक्रम होगा, तो उनके आदेश का पालन करने की चेष्टा करता हूँ। मैं उनके चरणों में प्रणाम करता हूँ। आप सबके चरणों में भी मेरा नमन है।

जो प्रसंग पिछले वर्ष लिया गया था। स्वामीजी महाराज ने उसी क्रम को आगे बढ़ाने के लिये कहा है।

महर्षि वाल्मीकि से प्रभु ने अपने निवास के विषय में प्रश्न किया कि मैं कहाँ रहूँ। उसका एक दार्शनिक उत्तर देते हुये महर्षि वाल्मीकि ने कहा कि पहले आप यह बताइये कि आप कहाँ नहीं हैं? मैं वही स्थान आपको निवास हेतु बता दूँ। महर्षि यह सत्य जानते हैं कि ईश्वर सर्वत्र हैं। उन्हें निरन्तर सबके हृदय का निवासी कहकर उनका परिचय दिया गया है। पर क्या व्यक्ति को अपने जीवन में इस सत्य का अनुभव हो रहा है? उसका उत्तर नकारात्मक ही होगा।

आगे चलकर महर्षि वाल्मीकि ने जो चौदह स्थान बताये उसका यह तात्पर्य है कि हमें एक ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जो केवल हृदय में बैठे हुए, वेदान्त की भाषा में कहें तो कूटस्थ या द्रष्टा न होकर, हमारे जीवन की समस्याओं का समाधान करें, इसलिये हमें निष्क्रिय ब्रह्म की नहीं, सक्रिय ईश्वर की आवश्यकता है और उन ईश्वर को सक्रिय बनाने के लिये हमें स्वयं यह अनुभव हो कि ईश्वर हमारे हृदय में हैं; हमें यह लगे कि ईश्वर केवल हैं ही नहीं, प्रति क्षण हमारे साथ हैं। वे हमारी प्रत्येक समस्या का सामाधान दे रहे हैं, तभी सचमुच ईश्वर का हृदय में होना और हम सबके जीवन में उनकी सार्थकता का अनुभव हो सकता है।

इसलिये महर्षि वाल्मीकि ने प्रभु के निवास के लिये चौदह स्थान बताये और उन चौदह स्थानों का तात्पर्य यह है कि चौदह प्रकार की साधनाओं में से यदि एक प्रकार की भी साधना हमारे जीवन में ठीक-ठीक सम्पन्न हो जाय, तो ईश्वर को हम अपने जीवन में सक्रिय और प्रत्यक्ष रूप से देख सकेंगे, उनकी कृपा का अनुभव कर सकेंगे और वे हमारे प्रश्नों और समस्याओं का समाधान कर देंगे।

पिछले वर्ष पहले स्थान की चर्चा हुई, जिसमें कथा की प्रधानता है। दूसरे स्थान के बारे में महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि जैसे चातक पक्षी स्वाति नक्षत्र के जल को छोड़कर अन्य कोई जल नहीं पीता, वैसे ही जिन लोगों ने अपने नेत्रों को चातक बना लिया है और आपके रूप-सौन्दर्य को छोड़ उन्हें और कुछ भी देखना अच्छा नहीं लगता, ऐसे अनन्य भक्तों, प्रेमीजनों के हृदय में आप निवास करें।

प्रारम्भ में दो तथ्यों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट कर दूँ। एक तो चातक की बात और दूसरी अनन्यता की बात। भूमिका के रूप में कुछ बातें आप सुनेंगे, तो बाद में उसे सुनना और ग्रहण करना सरल हो जायेगा। इस पंक्ति में वर्णित चातक गोस्वामीजी का एक बड़ा ही प्रिय पक्षी है और 'मानस' में तो यत्र-तत्र भक्तों के लिये चातक की उपमा दी गई है, पर दोहावली रामायण में चातक की वृत्तियों का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। गोस्वामीजी कहते हैं कि

चातक जल तो पीता है, पर उसका नियम है कि मेघ जब स्वाति नक्षत्र में जल बरसाता है, केवल तभी पीता है। और वह चाहे कितना भी प्यासा क्यों न हो, उस स्वाति नक्षत्र को छोड़ कर वह कोई अन्य जल नहीं पीता।

इसके लिये गोस्वामीजी ने अनेक दोहे लिखे। वे एक दोहे में कहते हैं – चातक चला जा रहा था, बड़ी तेज धूप थी, तीव्र गर्मी थी, थक गया। सामने एक बाग दिखाई पड़ा। उसे देखकर चातक के मन में आया, क्यों न इस बाग में थोड़ा विश्राम कर लूँ ! लेकिन उसकी वृत्ति बड़ी अनोखी थी। वह बाग में भीतर घुसने के पहले माली को पुकारता है और माली से पूछता है कि यह बताओ कि तुम्हारे बाग के ये जो वृक्ष हैं, वे किस जल से सींचे गये हैं। माली बड़े आश्चर्य से देखता है। वह बोला – पागल हो क्या? क्या हमने कोई नियम बना रखा है कि जब ऐसा जल बरसेगा, तब उसके द्वारा बाग के वृक्षों को सींचेंगे, दूसरा जल होगा तो नहीं सींचेंगे। जब चातक को पता चला कि वह जल, जिससे यह बगीचा सींचा गया है, वह तो स्वाति नक्षत्र का जल नहीं है। तो चातक ने कहा कि भले ही मैं धूप में मर जाऊँ, पर जो स्वाति नक्षत्र के जल को छोड़कर अन्य जल से सींचा गया वृक्ष है, उसकी छाया में मैं विश्राम नहीं करूँगा –

चातक बतियाँ न रूची अनजल सीचें रूख ।।
अनजल सींचे रूख की छाया तें भल घाम ।
तुलसी चातक बहुत हैं यही सयानो काम ।।

दोहावली/३१०-११

एक अन्य दोहे में वे कहते हैं – बहेलिये ने चातक पर बाण चला दिया और संयोग ऐसा कि बाण लगने पर वह गंगाजी में गिरा। हमारे यहाँ कहा जाता है कि मृत्यु के समय यदि एक बूँद गंगाजल मुँह में पड़ जाय, तो आदमी मुक्त हो जाता है। पर उस चातक ने अपने चोंच को जोर से बन्द कर लिया कि कहीं इसमें गंगाजल भीतर न चला जाय। मृत्यु हो गई, पर उसने गंगाजल को मुख में प्रविष्ट नहीं होने दिया –

बध्यो बधिक पर्यो पुण्यजल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच ।।

इस प्रकार चातक पर गोस्वामीजी ने अनेक दोहे लिखे। लोग पूछते हैं – इस चातक को क्या आपने देखा है? यह चातक कहाँ मिलेगा? इस पर मैं कहूँगा कि उस चातक को ढूढ़ने की आप व्यर्थ चेष्टा मत करिये। किसी चिड़ियाघर में भी जाकर उसे मत ढूँढ़िये, वृक्षों पर या वन में भी उसे मत ढूँढ़िये। यदि उस चातक को पाना है, तो आप उसे गोस्वामीजी के दोहे की डाली पर ही बैठा हुआ पायेंगे, अन्यत्र कहीं नहीं। यह बात बहुत सरल होते हुए भी बड़ी गम्भीर है। सीधी-सी बात यह है कि कवि जब वर्णन करते हैं, तो उसमें अनेक ऐसी बातें होती हैं जो कि संसार में देखने को नहीं मिलतीं।

यदि साधारण दृष्टि से कहें तो व्यक्ति कहेगा कि यह तो बहुत बड़ा झूठ है। तो क्या सचमुच कवि की कविता झूठ का पुलिन्दा है? वह जब भी कोई वर्णन करेगा, उपमा देगा, युक्ति देगा, तो उसमें कल्पना का आश्रय तो लेगा ही !

भगवान राघवेन्द्र समुद्र के किनारे बैठे हुये हैं और प्रश्न उठा कि समुद्र का जल खारा क्यों है? हनुमानजी ने एक उत्तर दिया – प्रभो, पुराना समुद्र तो खारा नहीं, मीठा था, पर वह समुद्र तो सूख गया। – कैसे? बोले – आपके प्रताप के बड़वानल से वह समुद्र सूख गया। – तो सामने जो समुद्र लहरा रहा है, यह कौन-सा समुद्र है? हनुमानजी बोले – यह नया समुद्र बना है। – कैसे बना? कहा – महाराज, आपके आक्रमण की सूचना पाकर लंका की निशाचरियों की आँखों से जो आँसू बहे, उसी से यह खारा समुद्र बना –

प्रभु प्रताप बड़वानल भारी ।
सोषेउ प्रथम पयोनिधि बारी ।।
तव रिपु नारि रुदन जल धारा ।
भरेउ बहोरि भयेउ तेहिं खारा ।। ६/१/२-३

सोचिये, इसमें सत्य कितना है? क्या सचमुच निशाचरियों के आँसू से समुद्र बन सकता है? और हनुमानजी महाराज समुद्र के लिये तर्क देते हैं, प्रमाण देते हैं। मैं कहता हूँ – आँसुओं के जल से समुद्र बना हुआ है। पूछा – कैसे? तो बोले – आँसू खारा होता है, समुद्र भी खारा है। तो आँसुओं वाला जिसमें जल होगा, वह पुराना समुद्र नहीं होगा।

इसे असत्य कहें कि सत्य कहें? यदि कोई बड़ा तथ्यत: बात कहनेवाला होगा तो कहेगा कि यह तो गप्प है। परन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि काव्य को पढ़ते समय हम उसके उद्देश्य को समझने का और उसके द्वारा दिये जा रहे सन्देश को हृदयंगम करने का प्रयास करें। गोस्वामीजी बोले – इस बात में कविता की दृष्टि से तो यह अतिशयोक्ति है, पर इसे सुनकर सारे बन्दर प्रभु की ओर देखकर हँसने लगे –

सुनि अति उकुति पवनसुत केरी ।
हरषे कपि रघुपति तन हेरी ।। ६/१/४

तो यह कवि की कल्पना है और चातक भी वैसे ही एक कल्पना है, ऐसा हंस भी एक कल्पना ही है, जो केवल मानसरोवर में ही रहता है और मोती ही चुगता है। मानसरोवर की यात्रा करनेवालों को तो ऐसा हंस कहीं नहीं मिलता।

कवि अपने काव्य में अनेक दृष्टान्त देता है। और सहज भाव से देखें, तो लगता है कि यह कल्पना है। व्यक्ति और अधिक यथार्थवादी हुआ, तो कहेगा कि यह असत्य है। पर इसे एक दूसरा नाम दिया गया – 'कवि-सत्य'। और इस नाम के पीछे एक संकेत है, एक उद्देश्य है। इसमें संकेत मानो यह है कि कविता में जो बातें कही जाती हैं, वे कल्पना नहीं, 'कवि के सत्य' हैं।

'कवि का सत्य' – कहने का क्या तात्पर्य है? यह सृष्टि सत्य है या कल्पना? वास्तविक है या मिथ्या? 'मानस' में, वेदान्त-ग्रन्थों में सृष्टि के मिथ्या होने का वर्णन किया गया है। तो 'संसार मिथ्या है' – यह वाक्य भी सच है या झूठ?

बड़ी अनोखी बात है। आप कह सकते हैं कि इतना बड़ा संसार हमारे सामने है, हम इसमें व्यवहार करते हैं – चलते-फिरते हैं, लिख देने से क्या हुआ कि संसार झूठा है। परन्तु दार्शनिक अर्थों में, हमारे मनीषियों ने, सन्तों ने इसे 'मिथ्या' देखा है और उन्होंने ऐसा कहा। इसीलिये कवि को ब्रह्मा भी बताया गया है – **कविः स्वयम्भूः प्रभुः**।

ईश्वर स्वयम्भू के रूप में स्वयं ब्रह्मा का निर्माण करते हैं। कवि भी एक ब्रह्मा है। वह अपनी कविता में एक संसार का निर्माण करता है। जो संसार हमें बिलकुल सच प्रतीत होता है, वह भी विचार करने पर सत्य नहीं है। 'मानस' में आप पढ़ते हैं कि लक्ष्मणजी ने निषादराज को एक दृष्टान्त दिया – जब कोई सपना देखता है, तब क्या उसे लगता है कि यह झूठ है? सपने में सपने के मिथ्यात्व का ज्ञान व्यक्ति को नहीं होता। – कब होता है? एक दृष्टान्त है – यदि किसी ने सपने में देखा कि कोई मेरा सिर काट रहा है, तो उसे परम कष्ट होता है, बड़ी पीड़ा होती है, वह चीखने-पुकारने लगता है। और उसका कष्ट कैसे दूर हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि बिना जागे उसका दुख नहीं मिट सकता –

जौं सपनें सिर काटै कोई।
बिनु जागें न दूरि दुख होई।। १/११८/२

यदि वह सपने में चिल्लाये कि मुझे बचाइये और कोई दौड़कर उसे बचाने के लिये आ जाय, तो पूछेगा – "कहाँ है, कौन तुम पर हमला कर रहा है?" परन्तु जब उसकी आँखें खुल जायेंगी, तो उसे लगेगा – अरे, मैं तो सपना देख रहा था। तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम जिस सृष्टि में रहते हैं, वह भी दार्शनिक अर्थों में एक कविता है। कवि की कविता के समान ही एक कविता यह संसार भी है। और इसीलिये शास्त्रों में कहीं कहा गया – **पश्य देवस्य काव्यम्** – कवितायें तो आपने बहुत सुनीं, अब ईश्वर के काव्य, ब्रह्मा के काव्य – इस संसार को भी देखिये। ब्रह्मा द्वारा निर्मित इस मिथ्या संसार में बहुधा व्यक्ति को बड़े दुखों का अनुभव होता है। जीवन में उसे प्रायः दुख-ही-दुख झेलने पड़ते हैं।

तो कोई भक्त या दार्शनिक कवि कविता करता है, तो उसे आप असत्य क्यों कहते हैं? यदि यह कल्पित संसार इतना विस्तृत दिखाई देता है, तो हम कैसे कहें कि कवि झूठे हैं। वैसे कवियों के लिये बड़े कड़वे-कड़वे शब्द कहे गये हैं, उन पर भद्दे-से-भद्दे शब्दों का प्रहार किया गया है।

परन्तु गहराई से विचार करके देखें कि यदि हम ब्रह्मा की सृष्टि के दुखों को मिटाना चाहते हैं, तो हमें कवि की सृष्टि का आनन्द लेना होगा। दुख से मुक्त होने का यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। हम जिस सृष्टि में बैठे हुए हैं, उसके स्थान पर जब आप कवि के काव्य की सृष्टि में प्रवेश करते हैं, काव्य को सही अर्थों में हृदयंगम करते हैं, तो आप दुख से तो मुक्त नहीं हो जाते, परन्तु वह काव्य आपके लिये जीवन में प्रतिक्षण सहायक बनता है, कल्याणकारी बनता है। तो कवियों की सृष्टि में चातक, हंस आदि अनेक दृष्टान्त हैं।

गोस्वामीजी रहते काशी में, पर बार-बार चित्रकूट जाया करते थे। उन्हें चित्रकूट की यात्रा करते हुये देखकर किसी ने उनसे कहा – बीच-बीच में आप चित्रकूट क्यों चले जाते हैं? वे बोले – "साँप और नेवला जब लड़ते हैं, तो विषैला साँप नेवले को भी तो काटता होगा। तो जिस साँप के काटने से व्यक्ति मर जाता है, उससे नेवला क्यों नहीं मरता? जंगल में एक जड़ी होती है, जो विष को उतार देती है। और नेवले को उसकी जानकारी है, पर मनुष्य को नहीं है। जब साँप काटता है, तो नेवला जंगल में जाकर उस जड़ी को खा लेता है, जहर से मुक्त हो जाता है और आकर साँप को हरा देता है। आप भी जाकर इस जड़ी को खोजते रहिये। नेवले और साँप की लड़ाई देखिये। नेवला कहाँ गया और क्या जड़ी खाई, यदि आप इस चेष्टा में लगेंगे तो आप असफल हो जायेंगे। वह जड़ी कवि का सत्य है, भौतिक-विज्ञान इसे सत्य नहीं मानता। और सच तो यह है कि नेवला लड़ने की कला में इतना निपुण है, व्यावहारिक सत्य तो यह है कि वह साँप के प्रहार से अपने को बचा लेता है। पर गोस्वामीजी कहते हैं कि मैं तुलसीदास नेवला हूँ और संसार के दुर्गुण साँप हैं। और हम दोनों की लड़ाई चल रही है। और जब वे संसार के दुर्गुण के साँप मुझे डस लेते हैं, तब मुझे जड़ी की आवश्यकता होती है। – वह जड़ी कौन-सी है? उन्होंने कहा – चित्रकूट ही एक वह जड़ी है, जो संसार के दुर्गुण रूपी साँप के काटे हुए विष को उतार देती है। और वहाँ से नयी शक्ति लेकर मैं फिर उस साँप से लड़ने के लिये आता हूँ –

भव भुजंग तुलसी नकुल डसत ज्ञान हरि लेत।
चित्रकूट एक औषधि चितवत होत सचेत।।

इन पंक्तियों से कवि वस्तुतः यह कहता है कि आप जो कह रहे हैं, वह भी तो तत्त्वतः सत्य नहीं है। पर यह सत्य न होते हुये भी इतना दुख दे रहा है, तो काव्य के रूप में जिस सत्य का प्रतिपादन करता है उसका उद्देश्य व्यक्ति को चित्रकूट जाकर जड़ी खोजने की प्रेरणा देना नहीं, बल्कि इस भव-दुख को दूर करना है। इस दोहे को पढ़कर आप जड़ी खोजने निकल पड़े, तो आपने इसका सही अर्थ नहीं लिया, आप सही दिशा में नहीं चल रहे हैं। इस दोहे को पढ़कर आपके मन में चित्रकूट में साधना करने की वृत्ति आवे तो इसका अर्थ है कि आपने उसका सही अर्थ लिया।

तो कवि वस्तुत: एक नई सृष्टि बनाता है और हमें यह सन्देश देता है कि यह संसार आपको इतना दुख दे रहा है, अब मेरी इस सृष्टि में आकर संसार-दुख का निवारण कीजिये। शंकरजी को भी गोस्वामीजी ने सुकवि की उपाधि दे दी –

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना
श्रीशम्भुना दुर्गमम् ।। ७/१३०

न जाने कितने कवियों के साथ 'सुकवि' लगा दिया जाता है। गोस्वामीजी ने कहा कि शंकरजी सुकवि हैं। यह उपाधि बहुत छोटी लगती है। और महर्षि वाल्मीकि के लिये भी कहा जाता है कि वे आदि कवि हैं। शंकरजी ने भी रामायण लिखी और वाल्मीकि ने भी रामायण लिखी और कहा जाता है कि कविता में सबसे पहले श्रीराम के चरित्र का वर्णन महर्षि वाल्मीकि ने किया। उसके पूर्व कविता की कोई विधा नहीं थी, इसलिये वे आदि कवि हैं।

कुछ दिन पहले एक आयोजन में कुछ लोगों ने मुझसे पूछा कि महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना की वे आदि कवि हैं और रामायण की दूसरी रचना शंकरजी ने की। उन्होंने यह रचना कब की? और वाल्मीकि जी आदि कवि हैं, तो इसका अर्थ हुआ कि शंकरजी ने बाद में ही रामायण लिखी होगी। नहीं तो उनके साथ भी जोड़ा जाता कि वे आदि कवि हैं। मैंने कहा – **वाल्मीकि जी आदि कवि हैं और शंकरजी अनादि कवि हैं।** और इसका अर्थ यह हुआ कि वाल्मीकि को हम एक व्यक्ति के रूप में देखते हैं। एक समय विशेष में उन्होंने लिखा। पर शंकरजी ने?

यदि आप भारतीय दर्शन को भारतीय चिन्तन को समझना चाहें, तो एक शब्द जरूर पकड़ लीजिये और वह शब्द है – 'अनादि'। अनादि को आप सही-सही समझ लें, तो आपको नये अर्थों का बोध होगा। विश्वविद्यालयों में छात्रों द्वारा शोध-प्रबन्ध लिखे जाते हैं। शोध-प्रबन्ध स्वीकृत होने के बाद पी. एच. डी. (डॉक्टरेट) की उपाधि मिलती है। ऐसे लोग मुझसे भी मिलते हैं, जो गोस्वामीजी पर शोध करने की इच्छा रखते हैं। मुझे बताना पड़ता है कि पाश्चात्य जगत् की शोध-पद्धति और भारतीय चिन्तन – दोनों एक-दूसरे से एकदम भिन्न हैं। क्योंकि शोध करनेवाले को सबसे पहले यह बताना पड़ेगा कि इसकी रचना किसने की? कब की? और उसे लिखते समय किन ग्रन्थों का सहयोग लिया गया था। शोध-प्रबन्ध आदि की खोज करता है और भारतीय दर्शन अनादि की बात कहता है। जो भी बात कहो, उसे वह अनादि कह देगा। इस अनादित्व में बड़ा विलक्षण तत्त्व है। आप रामायण में ही पढ़ते हैं कि रामायण की रचना शंकरजी ने की। – कब की? गोस्वामीजी कहते हैं – वह तो अनादि काल से है। पर वह भगवान शंकर तो रचयिता मानकर लिखा गया। वाल्मीकि जी ने बाहर लिखा और शंकरजी की रामकथा का निर्माण भीतर हुआ। भगवान शंकर जब पार्वतीजी को कथा सुनाने लगे, तो कह सकते थे कि इस रामायण का निर्माण करके मैंने हृदय में रख लिया था –

रचि महेस निज मानस राखा । १/३५/११

पर उन्होंने बड़ी विचित्र बात कही। बोले – पार्वती, तुम्हें मैं वह कथा सुना रहा हूँ, जो भुशण्डि ने गरुड़ को सुनाया –

काग भुसुंडि गरुड़ प्रति गाई । ७/५३/८

यह कथा शंकरजी से लोमश को मिली। लोमशजी से कागभुशुण्डि को मिली। बड़ी विचित्र बात है। भुशुण्डिजी से पूछा गया कि यह जो आप कथा सुना रहे हैं, इसकी रचना क्या आपने की है? बोले – नहीं, शंकरजी की कृपा से मिली। उनसे लोमश को मिली, लोमशजी से मुझे मिली –

संभु प्रसाद तात मैं पावा । ७/११३/११

याज्ञवल्क्य से पूछा गया कि आप जो रामकथा सुना रहे हैं, इसकी रचना क्या आपने की? वे बोले – नहीं, जिसे शंकरजी ने पार्वतीजी को, भुशुण्डिजी ने गरुड़ को और उनसे जो कथा मुझे मिली, वह मैं आपको सुना रहा हूँ। इनमें कोई भी स्वयं को इस कथा का रचयिता नहीं बता रहा है। इसका अर्थ क्या है? यही तो अनादित्व का आनन्द है। अनादित्व में बनानेवाला कौन है? और यदि हम इतना समझ लें, तो जीवन से अभिमान ही नष्ट हो जायेगा। **सारा अभिमान तो आदि को लेकर है कि यह पहले नहीं था, मैंने बनाया।** ऐसा नहीं था, मैंने किया। यह आदि ही मनुष्य को अभिमानी बनाये हुए है। और जब उसे लगने लगे कि इसे बनानेवाला भला कौन हो सकता है? यह तो अनादि सत्य है। अत: हर वस्तु के साथ आपको यह अनादि शब्द जुड़ा हुआ मिलेगा। – यह संसार कब बना? अब वैज्ञानिक अपने ढंग से खोज करेगा, परन्तु रामायण में लिखा है कि सृष्टि अनादि है –

बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी । २/२८२/६

श्रीराम का जन्म कब हुआ? रामायण में है – रामनवमी के दिन महाराज दशरथ-कौशल्या के घर में श्रीराम का जन्म हुआ। वह वर्णन भी बड़े मधुर ढंग से किया गया है। लेकिन एक शब्द जोड़ दिया गया है – राम अनादि हैं –

राम अनादि अवधपति सोई ।।

रामकथा अनादि है। और हमें इस सत्य को जान लेना होगा कि जो कुछ है, उसमें व्यक्ति का किया हुआ कुछ भी नहीं है; परन्तु जहाँ से हम प्रारम्भ करते हैं, दूसरे व्यक्ति को दिखाई देता है कि आज यह है। आप रामायण में पढ़ते है, भरतजी प्रभु के चरणों में निवेदन करते हैं – महाराज, आपके राज्याभिषेक के लिये मैं तीर्थों का जल ले आया हूँ। बताइये, इसका क्या करूँ। भगवान कहते हैं – तुम महर्षि अत्रि के पास जाओ और वे जहाँ भी रखने को कहें, वहीं पर जल को रख देना। भरतजी महर्षि अत्रि के चरणों में प्रणाम करते हैं।

तीर्थों का जल अत्रि मुनि के आश्रम में ले जाया जाता है। चित्रकूट में आज भी एक कुँआ है, जिसमें थोड़ा जल था, उसमें वह तीर्थों का जल डाल दिया गया। महर्षि अत्रि कह सकते थे – "भरत, तुम बड़े महान् हो कि तुम्हारे लाये हुए जल से विश्व का कल्याण का होगा, इस जल का पान करके लोग धन्य होंगे, कृतकृत्य होंगे।" पर वे कहते हैं – भरत, यह कुँआ अब का नहीं है, यह अनादि सिद्ध स्थान है, कालक्रम से लुप्त हो गया था, लोग भूल गये थे –

तात अनादि सिद्ध थल एहू।
लोपेउ काल बिदित नहिं केहू ।। २/३१०/४

वही 'अनादि' शब्द। अनादि होते हुये भी कोई वस्तु ढँक जाती है। जमीन में कोई वस्तु गड़ गई है। न जाने कब की होगी। दिखाई नहीं दे रही है। समय आने पर दिखाई देती है। बोले – अब ब्रह्मा की ऐसी कृपा हुई कि तुम्हारे आगमन तथा तीर्थों का जल डालने से यह धन्य हो गया –

बिधि बस भयउ बिस्व उपकारू ।। २/३१०/६

यह अनादि शब्द ही हमारे चिन्तन का मुख्य तत्त्व है। और इसका अभिप्राय यह है कि आप कहीं भी अपने आप को निर्माता मानेंगे, तो अभिमान अवश्य होगा? मायाप्रपंच अनादि है। ज्ञान भी किसी व्यक्ति का नहीं है, वह भी अनादि है।

आप केवल एक माध्यम हैं। एक समय में आपके द्वारा कोई कार्य होता है और दूसरों को लगता है कि वह कार्य आपने किया है। यह बड़ी अनोखी बात है। इसलिये उस शोध-प्रबन्ध का आदि और हमारे चिन्तन का अनादि भला कैसे मिलेगा? वे तो लिखेंगे कि गोस्वामीजी ने रामायण कब लिखी, कितने दिनों में लिखी। किन ग्रन्थों से सहायता ली।

हम लोग कहते हैं कि गोस्वामीजी ने रामायण लिखी, पर वे कहते हैं – मैंने वह कथा अपने गुरुजी से सूकर क्षेत्र में सुनी। लेकिन उस समय मेरी आयु कम थी, ठीक से समझ नहीं सका। गुरुजी इतने उदार थे, उन्होंने सोचा कि यह समझ नहीं पाया, तो उन्होंने बार-बार सुनाया –

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी
कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन
तब अति रहेउँ अचेत ।। १/३०/क
तदपि कही गुर बारहिं बारा।
समुझि परी कछु मति अनुसारा ।। १/३१/१

यह ग्रन्थ इतना बड़ा बना दिया? – मैंने नहीं बना दिया। मैंने जो सुना था, उसका थोड़ा-थोड़ा, जैसी मेरी बुद्धि थी, जितना मैं समझ सका था, सोचा कि जरा इसे मैं सरल भाषा में लिख दूँ। – तो आपने लोक-कल्याण के लिये लिखा?

आजकल लोक-कल्याण की बातें बहुत होती है। हम सब लोक-कल्याण में लगे हुए हैं, पर हो नहीं पा रहा है। लेकिन गोस्वामीजी ने कहा – मैंने कोई लोक-कल्याण हेतु नहीं लिखा। – फिर क्यों लिखा? बोले – मैंने स्वयं समझने के लिये ही, अपने मन को प्रबोध देने के लिये ही, इसे सरल भाषा में प्रस्तुत कर दिया –

भाषा बद्ध करबि मैं सोई।
मोरें मन प्रबोध जेहिं होई ।। १/३१/२

एक बार इन शब्दों की पुनरावृत्ति पर आप ध्यान दें, तो आपको लगेगा कि कवि जो बात कह रहा है, वही वास्तविक सत्य है। और जो बातें कही जा रही हैं, उनकी तुलना में वह जो सत्य है, और छोटा है, और लघु है।

आप भगवान शंकर और पार्वती के विवाह के बारे में पढ़ते हैं। उस प्रसंग में एक बात लिखना गोस्वामीजी ने जरूरी समझा। – क्या? जब विवाह का कर्मकाण्ड प्रारम्भ हुआ, तो मुनियों ने शंकरजी और पार्वतीजी से कहा – सबसे पहले वर और कन्या गणेशजी का पूजन करें। पुराण कहते हैं कि गणेशजी शंकर-पार्वती के बेटे हैं। अभी तो विवाह हो रहा है और बाप बेटे का पूजन कर रहा है। यह बेटा कहाँ से आ गया? पढ़नेवाले को क्या लगेगा?

किसी ने गोस्वामीजी से पूछा – महाराज, यह क्या हो रहा है? तो वे वहीं अपना नुस्खा दे देते हैं। बोले – इसमें कोई सन्देह करने की आवश्यकता नहीं। गणेशजी शंकरजी के बेटे हैं, यह एक सत्य है और गणेशजी अनादि हैं, सदा से हैं, उससे आगे का सत्य है –

मुनि अनुसासन गनपतिहि
पूजेउ संभु भवानि।
कोउ सुनि संसय करै जनि
सुर अनादि जियँ जानि ।। १/१००

गणेश अनादि हैं। इसमें कितना सुन्दर सूत्र दिया गया है? शंकरजी तथा पार्वतीजी ने गणेशजी का पूजन किया। किसी माता-पिता से कहा जाय कि जरा अपने बेटे की पूजा करो, बेटे का पैर पखारो, बेटे को भोग लगाओ, तो वह नाराज हो जायेगा। – मैं भला अपने ही बेटे की पूजा करूँगा? परन्तु भगवान शंकर और पार्वती से मुनि कहते हैं – गणेशजी की पूजा कीजिये। और वे बड़े आनन्द से पूजा करते हैं। शंकरजी से कोई पूछता कि आप पिता होकर बेटे की पूजा कर रहे हैं? तो वे कहते हैं – पिता तो तुम कहते हो, मैं जानता हूँ कि यह पिता और पुत्र के रूप में जो कुछ दिखाई दे रहा हैं वह केवल बहिरंग सत्य है। सत्य तो यह है कि गणेश अनादि हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(४२) बिनु विवेक ज्ञान नहिं होवे

एक बार एक व्यक्ति ने चीनी विचारक लाओत्से से कहा, "एक शंका मुझे बहुत दिनों से साल रही है। मैं बहुत दूर से उसका निवारण करने आपके पास आया हूँ। शंका यह है कि कुछ लोग सहज ही पानी पर चलते हैं, मगर डूबते नहीं, जबकि कुछ लोग आग पर चलते हैं और आग का उन पर कोई असर नहीं होता।" लाओत्से बोले, "ऐसा इसलिए होता है कि ऐसे व्यक्तियों के मन में भेदाभेद की कोई बात नहीं होती। आम लोग जब पानी को देखते हैं, तो वे पानी को अपने से अलग मानते हैं और पानी की ही कल्पना करते हैं। वैसे ही लोग आग को देखकर अपने को आग से अलग महसूस करते हैं। पर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो पानी या आग को देखकर इतने तन्मय हो जाते हैं, इतना निराकार हो जाते हैं कि आग या पानी से उन्हें अपना अस्तित्व अलग महसूस नहीं होता। उन्हें न तो पानी में डूबने का भय रहता है, न आग में जलने का। यही वजह है कि वे पानी और आग पर चल सकने में समर्थ रहते हैं। यह सब उनके विवेक के कारण होता है। संशय, अविश्वास और अन्धविश्वास – ये सब मन के तमस् हैं, जिनसे मनुष्य भ्रमित हो जाता है। किन्तु सन्त-महात्माओं के अन्धविश्वास तथा अविश्वास आत्म-विश्वास में बदल जाते हैं।"

(४३) क्या जप, क्या तप, क्या व्रत-पूजा

गाडगे महाराज का कीर्तन करने का ढंग ही निराला था। उनका कीर्तन कब प्रारम्भ होता और कब समाप्त होता, लोगों को पता नहीं चलता। वस्तुत: वार्तालाप ही उनका कीर्तन था और उसीके माध्यम से वे श्रोताओं को शिक्षा देते थे।

एक दिन उनके कीर्तन का समय हो रहा था, तभी कुछ लोग उनसे मिलने आ गये। बातचीत के दौरान गाँधीजी का जिक्र हुआ और लोगों ने गाँधीजी की नि:स्वार्थ सेवा की प्रशंसा की। एक ने कहा, "ईश्वर ने यदि मृत्यु न दी होती, तो गाँधीजी आजीवन लोगों की सेवा में लगे रहते और उनका परोपकार का कार्य निरन्तर जारी रहता।" दूसरे ने कहा, "ऐसे परोपकारी एवं सेवाभावी व्यक्ति की तो हमेशा वैसी ही पूजा की जानी चाहिये, जैसे हम देवमूर्ति की करते हैं।" गाडगे महाराज को विषय मिल गया। उन्होंने एक वृद्ध से पूछा, "मान लो लोगों ने मन्दिर बनाया, तो उसमें रखने हेतु मूर्ति लानी पड़ेगी या नहीं? तभी तो उसकी पूजा होगी।"

"हाँ" – वृद्ध ने जवाब दिया।

अब प्रश्नोत्तर का दौर चल पड़ा – "अब उस मन्दिर में जो मूर्ति रखोगे, क्या वह मुफ्त में मिलेगी?"

– "जी नहीं, हमें वह खरीदनी पड़ेगी।"

– "भगवान की मूर्ति क्या साग-सब्जी है, जो तुम उसे खरीदोगे?" लोग खामोश रहे।

उन्होंने अगला प्रश्न किया – "अच्छा मान लो आप मूर्ति को खरीद लाये। तो क्या उसे नहाना आता है? क्या, वह धोती पहन सकेगी?" लोगों ने इसका भी जवाब नहीं दिया। तब उन्होंने अगला प्रश्न किया – "अच्छा बताओ, पूजा के बाद क्या करोगे?" – "हम प्रसाद चढ़ायेंगे।"

"ठीक है। मान लो तुम्हारे चढ़ाये प्रसाद को किसी कुत्ते ने मुँह लगा दिया, तो क्या वह मूर्ति कुत्ते को भगायेगी?"

– "जी नहीं।" – "फिर जो कुत्ते को भगा नहीं सकता, क्या वह भगवान कहलाने के लायक है? नहीं तो तुम लोग उसे भगवान क्यों कहते हो? जब देवता अपनी रक्षा नहीं कर सकता, तो उसके बजाय मनुष्य की पूजा क्यों नहीं करते? उसके बताये मार्ग पर क्यों नहीं चलते?"

– "अच्छा बताओ, जब अंग्रेज यहाँ आये थे, तो उन्हें भगाने के लिए क्या किया गया था?" – "सत्याग्रह।"

– "इसे करने के लिए प्रेरित किसने किया था?" – "गाँधीजी ने।" – "फिर उनका जय-जयकार करना चाहिये, या नहीं?" – "अवश्य करना चाहिए।" – "केवल 'हाँ' क्यों कहते हो, उनकी जय-जयकार क्यों नहीं करते?"

"गाँधी जी की जय" – लोगों ने जोर से कहा।

"यह सच है कि हम लोगों को एक-न-एक दिन मरना है। मगर गाँधीजी मर गये, ऐसा क्यों कहते हो? मरते हम लोग हैं, क्योंकि मानव मरता है। गाँधीजी महामानव थे, इस कारण वे मरे नहीं हैं। जो भलाई का काम करता है, वह कभी मरता नहीं, अमर रहता है। गाँधीजी भी अमर हैं। फिर से बोलो, 'गाँधीजी की जय' और मन्दिर का सभागृह गाँधीजी की जय-जयकार से गूँज उठा।

इसके बाद वे बोले – "अब कहो, गोपाला, गोपाला, देवकीनन्दन गोपाला।" और इस घोष-वाक्य से बाबा का कीर्तन समाप्त हो गया। ❑❑❑

समृद्धि की आधार-शिला (३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(श्री संत गजानन संस्थान अभियांत्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव, महाराष्ट्र में स्वामी सत्यरूपानन्द जी पिछले कई वर्षों से वहाँ के विद्यार्थियों के मध्य व्याख्यान देने जाते रहे हैं। कभी-कभी उन्होंने वहाँ के विद्यार्थियों के लिये अंग्रेजी भाषा में व्यक्तित्व विकास सम्बन्धी कार्यशालाएँ भी आयोजित की थीं, जिनमें दिये गये कुछ व्याख्यानों को उक्त महाविद्यालय ने छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किया है। उन्हीं में से एक पुस्तिका "Pillars of Prosperity" का रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, के ब्रह्मचारी जगदीश ने 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ हिन्दी में अनुवाद किया है। - सं.)

नि:श्रेयस् अथवा परमानन्द की उपलब्धि का द्वितीय उपाय है व्यक्ति एवं संसार के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण का विकास। अध्यात्मवाद के मतानुसार मनुष्य पदार्थ एवं चेतना का सम्मिश्रण है। अध्यात्मवाद का यह उद्घोष है कि इस दृश्यमान पार्थिव जगत के पार्श्व में उसके आधार स्वरूप एक परम शक्ति विद्यमान है, जो सत्यस्वरूप एवं चेतनाशील है। यह दृश्यमान पार्थिव जगत भी उस परम सत्य की ही एक अभिव्यक्ति है। अत: यह विचारधारा प्रबन्धन अथवा नेतृत्व की कमान थामने वाले व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत जीवन में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को यथोचित महत्त्व प्रदान करने पर बल देती है। नैतिक एवं आध्यात्मिक अपरिपक्वता के रहते कितने ही परिमाण में दिया गया प्रबन्धकीय कौशल का ज्ञान, व्यक्ति को समग्र सन्तुलित एवं प्रभावी व्यक्तित्व नहीं प्रदान कर सकता।

प्रत्येक प्रबन्धक को मनुष्य, धन अथवा पदार्थ आदि के प्रभावी प्रबंधन हेतु नैतिक एवं आध्यात्मिक संस्कारों की भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि बौद्धिक संस्कारों की अथवा अन्य प्रबंधकीय कौशल की।

पार्थिव जगत की ही तरह अध्यात्म जगत के भी कुछ अटल एवं निश्चित नियम हैं। जिस तरह प्राकृतिक आपदाओं से सुरक्षा प्रदान करने हेतु निर्माणाधीन भवन में निर्माण अभियांत्रिकी के मूल नियमों का सावधानी-पूर्वक पालन किया जाता है, ठीक उसी तरह मानव-जीवन की वास्तविक सफलता हेतु आध्यात्मिक नियमों का सर्वविध पालन किया जाना चाहिए। ऐसा व्यावसायिक उद्यम अथवा निगम-तन्त्र जो नैतिक एवं आध्यात्मिक नियमों की सर्वथा अवहेलना करता है, वास्तविक अर्थों में विकास एवं सफलता अर्जित नहीं कर सकता तथा आपातत: दृश्यमान तथा कथित सफलता अत्यन्त अल्प-कालिक एवं अस्थायी होती है। अतएव प्रबन्धन अथवा नेतृत्व की कमान थामने वाले व्यक्ति के लिए उद्यम में सुनिश्चित सफलता-प्राप्ति हेतु नैतिक एवं आध्यात्मिक नियमों का पालन करना अनिवार्य शर्त है।

समृद्धि का द्वितीय सोपान – साधन

लक्ष्य निश्चित कर लेने के उपरान्त अगला महत्त्वपूर्ण कदम है – लक्ष्य-प्राप्ति हेतु साधनों का निर्धारण। स्वामी विवेकानन्द इस विषय में हमारा मार्गदर्शन करते हुए कहते हैं – "लक्ष्य निश्चित करने के उपरान्त हमे उसे भूलकर अपना सारा ध्यान एवं ऊर्जा लक्ष्य प्राप्ति के साधनों पर केन्द्रित करनी चाहिए। यदि साधन पर्याप्त, न्यायपूर्ण एवं समुचित परिमाण में हैं तब हमारी लक्ष्य-प्राप्ति निश्चित ही है।

प्रबंधन के छात्रों को इस बात का सदैव स्मरण रखना चाहिये कि 'अन्त भला तो सब भला' की उक्ति कितनी ही लोभनीय एवं तर्कपूर्ण क्यों न प्रतीत होती हो, वे उसे व्यवहार में न लायें। क्योंकि हमारा अनुभव हमें बताता है कि उत्तम एवं आदर्श लक्ष्य की सिद्धि दूषित, अनुचित एवं अनैतिक साधनों द्वारा कभी सम्भव नहीं है।

अत्यन्त सूक्ष्म एवं गौण नैतिक समझौते भी साधनों को धूमिल एवं दूषित कर प्रबंधक को लक्ष्य से च्युत कर देते हैं। अनुचित साधनों का उपयोग बड़ी-से-बड़ी सफलता को भी तुच्छ एवं सारहीन कर देता है। ऐसी सफलता समाज द्वारा अमान्य एवं परित्यक्त हो जाती है।

समृद्धि का तृतीय सोपान : कार्य-योजना अथवा सूत्रबद्धता

सृष्टि एक सुनिश्चित कार्य-योजना अथवा सूत्रबद्धता के आधार पर अस्तित्ववान है। अखिल ब्रह्माण्ड एक अत्यन्त दुर्बोध्य किन्तु आदर्श क्रम अथवा कार्य-योजना के अनुसार गतिशील है। कार्य-योजना का तात्पर्य कार्य-निष्पादन की विशिष्ट नीति, पद्धति अथवा शैली से है। उत्तम कार्य-योजना अथवा कार्य-शैली, सांगठनिक उद्यम के कार्य-कलापों की सुगम सम्पन्नता को सुनिश्चित करती है।

आज तक मानव द्वारा किया गया दीर्घ स्थायी गौरवास्पद निर्माण, दक्ष एवं प्रभावी कार्य-योजना की आधार-शिला पर ही सम्भव हो सका है। एक आदर्श कार्य-योजना उद्यम की सफलता को सुनिश्चित करती है। उत्तम कार्य-योजना पर सावधानी-पूर्वक किया गया कार्य चिर-यशस्वी एवं दीर्घ-स्थायी होता है। जबकि जिन उद्यम क्षेत्रों में कार्य-योजना का अभाव होता है, वहाँ सर्वत्र विश्रृंखलता एवं अस्त-व्यस्तता ही दृष्टिगोचर होती है।

सुन्दर कार्य-योजना अथवा क्रम निर्धारण के महत्व को हम सृष्टिकर्ता ईश्वर द्वारा रचित इस मानव देह के दृष्टान्त से भलि-भाँति समझ सकते हैं। हमारा रक्त शरीर के दूरतम अंगों तक अत्यन्त लय एवं नियमितता के साथ प्रवाहित होता है, वह शरीर की सूक्ष्मतम नाड़ियों तक पहुँचाया जाता है। हृदय एक अति विशिष्ट शैली में धड़कता है। यही हृदय व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त, दिन के चौबीसों घण्टे बिना रुके, बिना थके, रक्त के प्रवाह का संचालन करता है। हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका एक विशिष्ट क्रम निर्धारण एवं कार्य-योजना के अनुसार कार्यशील रहती है जिसके परिणाम स्वरूप समस्त शरीर स्वस्थ एवं कार्यपटु बना रहता है। जब कभी इनकी कार्य-योजना में किसी तरह का व्यवधान उपस्थित होता है, तब हम 'बीमार' पड़ जाते हैं तथा यदि समय रहते हमने समुचित सेवा-सुश्रूषा द्वारा शरीर की कार्य-योजना को उसकी नैसर्गिक कार्य-शैली हेतु अवसर न दिया तब यह बिमारी जानलेवा भी सिद्ध होती है।

ठीक इसी तरह एक उद्योग, व्यवसाय अथवा निगम की सफलता हेतु सुनिर्दिष्ट, आदर्श कार्य-योजना परम आवश्यक है। आपके हाथों में यह छोटी पुस्तिका हिन्दी वर्णमाला के बावन अक्षरों की क्रमबद्ध एवं योजनाबद्ध प्रस्तुति मात्र ही है। गणित-शास्त्र के आश्चर्यजनक एवं सटीक सवाल-जवाब मात्र दस अंकों की विशिष्ट योजना का ही परिणाम है। अत: एक प्रभावी, सुचिन्त्य एवं आदर्श कार्य-योजना उद्यम की सफलता हेतु शरीर के कुशल संचालन हेतु आवश्यक रीढ़ की हड्डी की तरह ही अपरिहार्य है।

लक्ष्य की स्पष्ट मानसिक रूपरेखा का महत्त्व

एक प्रबंधक के लिये यह आवश्यक है कि वह किसी कार्य-योजना को आरम्भ करने के पूर्व उसके विविध चरणों की एक मानसिक रूपरेखा तैयार कर ले, उनकी सुस्पष्ट व्याख्या निश्चित कर ले। कार्य-योजना की व्याख्या शब्दकोश इस प्रकार करता है – "विषय विशेष के तथ्यों, सिद्धान्तों, मतों आदि की क्रमबद्ध एवं बोधशील प्रस्तुति।

किसी कार्य के कुशल निष्पादन हेतु प्रबंधक को उस कार्य की सांगोपांग सम्यक् जानकारी होनी चाहिये। उसे कार्य के विविध चरणों के मध्य समरसता का विशेष ध्यान रखना चाहिये। कार्य-योजना की रूप-रेखा बनाते समय सम्भावित प्रतिक्रियाओं को न्यूनतम स्तर पर रखने का प्रयास करना चाहिये। क्योंकि न्यूनतम प्रतिरोध का मार्ग ही प्रत्येक सांगठनिक उद्यम हेतु सर्वदा उपयुक्त एवं वरेण्य होता है।

प्रबंधक को कार्य-योजना की रूपरेखा बनाने के पूर्व सबसे पहले अपने मन को सुप्रशिक्षित एवं सुव्यवस्थित कर लेना चाहिए। सुगठित एवं सूत्रबद्ध विचार-प्रणाली के अभाव में वह बाह्य कार्य-योजना के कुशल निष्पादन में असफल रहेगा। क्योंकि मानसिक भ्रान्ति, वैचारिक असामंजस्य एवं विशृंखलता बाह्य उपलब्धियों पर भी अपना प्रभाव डाला करती है।

आलस्य एवं प्रमाद (असावधानी)

आलस्य एवं असावधानी किसी कार्य-योजना के उत्तम रीति से सम्पादन में महान् शत्रु हैं। आलस्य अर्थात् सुस्तपना, ढीलापन। आलसी व्यक्ति के पास कार्य-सम्पादन हेतु पर्याप्त समय शक्ति एवं योग्यता होने पर भी आलस्य के वशीभूत हो दृढ़ इच्छाशक्ति के अभाव में वह आवश्यक परिश्रम नहीं करता एवं कार्य को बहाने बनाकर टालता जाता है। दीर्घसूत्रता कार्य को अनिश्चित काल तक विलम्बित कर देती है, परिणामत: विभिन्न कार्य-दलों का परस्पर सामंजस्य अव्यवस्थित होता है तथा श्रेष्ठ कार्य-योजना भी निष्फल हो जाती है। आलस्य प्रधान व्यक्ति प्रबंधक के रूप में कभी सफलता अर्जित नहीं कर सकता। अत: आरम्भ से ही प्रबंधन के विद्यार्थी को दीर्घसूत्रता के दुर्गुण को अपनी जीवनचर्या में कोई स्थान नहीं देना चाहिये।

उत्तम कार्य योजना के निष्पादन में असावधानी एक दूसरी बड़ी बाधा है। प्रबंधन के विद्यार्थी में सजगता एवं सावधानी पर्याप्त मात्रा में अपेक्षित है। उसे कार्य-योजना के प्रत्येक सूक्ष्मतम अंश की अपेक्षित गुणवत्ता के प्रति सावधानी रखनी चाहिए। वह जिन कार्य योजनाओं का संचालन कर रहा है, उसे उन सबका आद्योपान्त सम्यक् ज्ञान होना चाहिये। सजगता एवं गुणवत्ता के प्रति उसका अनवरत अथक परिश्रम उसे सफल प्रबंधन-क्षमता प्रदान करेगा। इस तरह सुव्यवस्थित रूप से कार्ययोजना का कुशल निष्पादन कर वह गुणवत्ता के उत्तरोत्तर संवर्धन द्वारा उत्कृष्टता की उपलब्धि कर सकेगा।

❖ (क्रमशः) ❖

पृष्ठ २०७ का शेषांश

सन्दर्भ-सूची –

३४९. विवेकानन्द साहित्य, (१९८९) खण्ड ५, पृ. १४०-४१; **३५०**. वही, खण्ड ४, पृ. २४०; **३५१**. वही, खण्ड ३, पृ. ३३४; **३५२**. वही, खण्ड ६, पृ. ९५; **३५३**. वही, खण्ड ५, पृ. ३३७; **३५४**. वही, खण्ड ३, पृ. ३३३; **३५५**. वही, खण्ड ६, पृ. १५८; **३५६**. वही, खण्ड ४, पृ. २६१; **३५७-३५८**. वही, खण्ड ५, पृ. १२०-२१; **३५९-३६०**. वही, खण्ड ७, पृ. २३९-४०; **३६१**. वही, खण्ड ५, पृ. १२१-२२; **३६२**. वही, खण्ड ७, पृ. २४०; **३६३**. वही, खण्ड ६, पृ. १२९; **३६४**. वही, खण्ड १, पृ. ३९९; **३६५**. वही, खण्ड ३, पृ. ३५७-५८; **३६६**. वही, खण्ड ३, पृ. ३२३; **३६७**. वही, खण्ड ९, पृ. ३२५; **३६८**. वही, खण्ड ८, पृ. २३; **३६९**. वही, खण्ड १, पृ. ४०४-०५; **३७०**. वही, खण्ड ३, पृ. ३५६; **३७१**. वही, खण्ड ५, पृ. १९३-९४; **३७२**. वही, खण्ड १, पृ. ४०५; **३७३**. वही, खण्ड ५, पृ. ४२-४३

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। जनवरी २००४ से आरम्भ करके जून २००५ अंक तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये लगातार प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– ७३ –

विषय-वासनाओं की शक्ति

सांसारिक विषयों की कामना इतनी प्रबल होती हैं कि वे मनुष्य को चैन से नहीं बैठने देतीं। साधक योगी भी उनके कारण कभी-कभी अपने मार्ग से च्युत हो जाते हैं, इसे समझाने के लिये श्रीरामकृष्ण एक दृष्टान्त बताते हैं –

अपने गाँव (कामारपुकुर) में मैंने देखा है – दीवार के भीतर बिल में नेवला रहता है। बिल में जब रहता है, खूब आराम से रहता है। कोई-कोई उसकी पूँछ में ईंट बाँध देते हैं; तब ईंट के कारण वह बिल से निकल पड़ता है। जब-जब वह बिल के भीतर जाकर आराम से बैठने की चेष्टा करता है, तब-तब उसे ईंट के प्रभाव से बिल से निकल आना पड़ता है। विषय-वासना भी ऐसी ही है, योगी को योगभ्रष्ट कर देती है।

– ७४ –

सुनार को समाधि लगना

हठयोग की अनेक क्रियाएँ बहुधा शारीरिक स्वास्थ्य में सुधार तथा आयु में वृद्धि के लिये ही अपनायी जाती हैं। परन्तु शरीर के रक्षण-पोषण पर बहुत अधिक ध्यान देने से मन की अधोगति होती है और वह उसके भोगों की ओर उन्मुख हो सकता है। वस्तुत: साधक के लिये विवेक-वैराग्य तथा भक्ति-अनासक्ति की ही आवश्यकता प्रमुख है। इसी बात को समझाने के लिये श्रीरामकृष्ण इस दृष्टान्त में हठयोग की कुछ क्रियाओं की सीमा बता रहे हैं –

शरीर, रुपया, यह सब अनित्य है। इसके लिए इतना हठ क्यों? हठयोगियों की दशा देखो न! शरीर किसी तरह दीर्घायु हो, बस इसी ओर ध्यान लगा रहता है। ईश्वर की ओर लक्ष्य नहीं है। नेती-धौती – बस, पेट साफ कर रहे हैं! नल लगाकर दूध ग्रहण कर रहे हैं।

एक सुनार था। उसकी जीभ उलटकर तालू पर चढ़ गयी थी। तब उसकी जड़-समाधि जैसी अवस्था हो गयी। फिर वह हिलता-डुलता न था। बहुत दिनों तक उसी अवस्था में रहा। लोग आकर उसकी पूजा करते थे। कुछ साल बाद अचानक उसकी जीभ सीधी हो गयी। तब उसे पहले की तरह चेतना हो गयी। फिर वही सुनार का काम करने लगा!

ये सब शरीर के कर्म हैं। उससे प्राय: ईश्वर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। शालग्राम का भाई बयासी प्रकार के आसन जानता था। वह योग-समाधि की भी बड़ी-बड़ी बातें कहता था। परन्तु भीतर-ही-भीतर उसका मन कामिनी-कांचन में था। दीवान मदन भट्ट की कुछ हजार रुपयों की एक नोट पड़ी थी। लालच में वह उसे झट-से निगल गया। बाद में किसी तरह निकाल लेता। परन्तु नोट उससे वसूल हो गयी। अन्त में उसे तीन साल के लिए जेल भेजा गया।

– ७५ –

सभी नारियों में मातृदर्शन

एक बार किसी ने श्रीरामकृष्ण से पूछा कि वे अपनी पत्नी के साथ गृहस्थी क्यों नहीं करते!

श्रीरामकृष्ण ने उत्तर में एक कथा सुनाई –

एक दिन गणेश ने एक बिल्ली को नाखून से खरोंच दिया था। घर जाकर उन्हें माता पार्वती के गाल पर नख के चिह्न दिखाई दिए। उन्होंने पूछा, "माँ, तुम्हारे गाल पर ये नाखून के दाग कैसे आए?" जगदम्बा बोलीं, "बेटा, ये तुम्हारे ही नाखून के दाग हैं।" गणेश ने आश्चर्य से पूछा, "भला मेरे नाखून तुम्हारे गाल पर कब लगे?" पार्वती ने कहा, "बेटा, क्या तुम्हें याद नहीं कि सबेरे तुमने एक बिल्ली को नोचा-खसोटा था?" गणेश बोले, "बिल्ली को नोचा तो था, पर तुम्हारे गाल पर दाग कैसे बना?"

पार्वती बोलीं, "बेटा! इस संसार में जो कुछ भी है, सो मैं ही हूँ। मेरे सिवा इस जगत् में कुछ भी नहीं है। मैं ही सारी सृष्टि और सभी जीव-जन्तुओं में परिणत हुई हूँ। तुम किसी भी प्राणी को चोट पहुँचाओ, तो वह मुझे ही लगेगी।"

सुनकर गणेश आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने तत्काल प्रतिज्ञा की कि वे आजीवन विवाह नहीं करेंगे। क्योंकि यदि वे विवाह करें भी, तो किससे करें! जिससे भी विवाह करने जायेंगे, वह तो उनकी माँ ही होगी! सर्वत्र सभी नारियों में माँ की सत्ता का ज्ञान होने के कारण ही उनके लिए विवाह करना सम्भव नहीं हो सका था। मेरी भी यही अवस्था है। मैं नारी मात्र को अपनी माता समझता हूँ।

– ७६ –

नव-धनाढ्य का दिखावा

धन का अहंकार बड़ा भयंकर होता है। यदि कोई निर्धन व्यक्ति अचानक धनवान हो जाता है, तो उसमें दिखावे का भाव आ जाता है और वह उसके हावभाव से प्रकट होने लगता है। इस बात को श्रीरामकृष्ण कुछ दृष्टान्तों के माध्यम से समझाते हुए कहते हैं – रुपया भी एक विचित्र उपाधि है। रुपया होते ही मनुष्य एक दूसरी तरह का हो जाता है।

यहाँ दक्षिणेश्वर में एक ब्राह्मण आया-जाया करता था। बाहर से वह बड़ा विनयी था। कुछ दिन बाद हम लोग कोन्नगर गए, हृदय साथ था। हम लोग नाव पर से उतरे कि देखा, वही ब्राह्मण गंगा के किनारे बैठा हुआ है। शायद हवाखोरी के लिए आया था। हम लोगों को देखकर बोला, 'क्यों महाराज, कहो कैसे हो?' उसकी आवाज सुनकर मैंने हृदय से कहा, 'हृदय, सुना! इसको धन हो गया है, इसी से आवाज किरकिराने लगी है।' हृदय हँसने लगा।

धनवान हो जाने पर मनुष्य पहले जैसा नहीं रह जाता, बिल्कुल ही बदल जाता है।

– ७७ –

धन का अहंकार

एक मेढ़क को कहीं एक रुपया मिल गया। उसने उसे अपने बिल में रख लिया। एक दिन एक हाथी उस बिल को लाँघ गया। तब मेढ़क बिल से निकलकर बड़े गुस्से में हाथी को लात दिखाने लगा और बोला, तेरी यह मजाल जो मुझे लाँघ जाय!' रुपये का ऐसा ही अहंकार होता है।

– ७८ –

माया कैसे आती और चली जाती है

एक बार दक्षिणेश्वर में एक साधु आये थे। वे कुछ काल तक नौबतखाने के ऊपर वाले कमरे में ठहरे थे। वे किसी से कुछ बोलते न थे और सारे दिन ईश्वर के ध्यान में मग्न रहा करते थे। एक दिन सहसा आकाश में बादल छा गये और चारों ओर अँधेरा छा गया। थोड़ी देर बाद फिर से हवा के जोरदार झोंके आये और बादल छँट गये।

यह देखकर महात्मा खुशी से नौबतखाने के बरामदे में आकर हँसने और नाचने लगे। उन्हें इस अवस्था में देखकर श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा – "तुम तो चुपचाप कमरे के भीतर बैठे रहते हो, आज इतना आनन्द कैसे मना रहे हो?" साधु बोले – "संसार की माया ऐसी ही है – पहले आसमान साफ था, सहसा बादलों ने आकर अँधेरा कर दिया और उसके थोड़ी देर बाद फिर पहले जैसा ही हो गया!"

– ७९ –

संसार असत्य है

भ्रम से छुटकारा पाना सहज नहीं है। ज्ञान के बाद भी थोड़ा-बहुत रह जाता है। स्वप्न में यदि कोई बाघ देखता है, तो आँख खुलने के बाद भी उसकी छाती धड़कती रहती है। उसी प्रकार यह जागतिक माया पारमार्थिक दृष्टि से असत्य होकर भी व्यावहारिक जीवन में बिल्कुल सत्य प्रतीत होती है। व्यक्ति चाहे जितना भी ज्ञान-विचार करे, पर सहज ही अपने मन से राग-द्वेष को दूर नहीं कर सकता। पूर्ण ज्ञान होने पर ही यह भ्रम टूटता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं –

कुछ चोर एक खेत में चोरी करने के लिए गये। वहाँ पक्षियों को डराने के लिये आदमी की शक्ल का एक पुतला बनाकर खड़ा कर दिया गया था। रात के अँधेरे में चोरों ने उसे सचमुच का आदमी समझा। डर के मारे वे खेत में घुस नहीं पा रहे थे। एक ने निकट जाकर देखा, वह केवल घास-भूसा मात्र था! आदमी के शक्ल की बाँधकर खड़ी कर दी गयी थी। उसने वहाँ से लौटकर अपने साथियों से कहा कि डरने की कोई बात नहीं। परन्तु फिर भी वे लोग डर के मारे आगे नहीं बढ़ रहे थे। कहने लगे – "छाती धड़कती है।" तब जिसने पास जाकर देखा था, उसने उस खड़े हुए पुतले को जमीन पर सुला दिया और कहने लगा, "देखो न, यह कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं है – 'नेति' 'नेति'।"

– ८० –

सब कुछ स्पप्नवत् मिथ्या है

सामने सागर को लहराता देखकर लक्ष्मण ने धनुष उठाकर कहा था – "यह समुद्र हमें लंका नहीं जाने दे रहा है। मैं वरुण का वध करूँगा।" राम ने उन्हें समझाया – "लक्ष्मण, यह जो देख रहे हो, सब स्वप्नवत् अनित्य है न! अत: समुद्र भी अनित्य है और तुम्हारा क्रोध भी अनित्य है। मिथ्या वस्तु को मिथ्या के द्वारा मारना भी मिथ्या है।"

– ८१ –

सिद्धियों के प्रयोग से नुकसान

सिद्धियों का होना भी एक समस्या है। उनसे लाभ होने की जगह हानि होने की सम्भावना ही अधिक है। इसी बात को स्पष्ट रूप से समझाने हेतु श्रीरामकृष्ण अपने गुरुदेव तोतापुरी से सुनी हुई एक कहानी बताते हैं –

एक सिद्ध समुद्र के तट पर बैठा हुआ था। उसी समय तूफान आया। उसे तूफान से कष्ट होने का भय हुआ। अत: उसने कहा – "तूफान रुक जा।" उसकी बात तो झूठ होने की नहीं थी। तूफान रुक गया। उधर से होकर एक पाल लगा हुआ जहाज चला जा रहा था। अचानक ही तूफान के

रुक जाने से वह जहाज डूब गया। जहाज के सारे यात्री भी उसी के साथ डूब गये। इतने आदमियों के मरने से जो पाप हुआ, वह सब उसी को लगा। उस पाप से उसकी विभूति भी चली गयी और उसे नरक भी हुआ।

– ८२ –

पागलपन का अभिनय

एक व्यक्ति पर काफी ऋण हो गया था। उसे चुका न पाने के परिणामों से बचने के लिये उसने पागलपन का ढोंग किया। चिकित्सक उसका इलाज कर पाने में विफल रहे। बल्कि उल्टे 'मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की'। उसका पागलपन बढ़ता ही गया। आखिरकार चिकित्सक ने वास्तविकता को समझ लिया और उसे एक किनारे ले जाकर डाँटते हुए कहा – "भाई, तुम यह क्या कर रहे हो? अब भी सँभल जाओ। कहीं ऐसा न हो कि पागलपन का अभिनय करते-करते तुम सचमुच ही पागल न हो जाओ। अभी से तुममें पागलपन के सच्चे लक्षण प्रकट होने लगे हैं।" इस विचारपूर्ण सलाह ने उसे इस मूर्खतापूर्ण कृत्य से उसे बचा लिया और उसने पागलपन का अभिनय बन्द कर दिया।

हमेशा दिखावा करते रहने से व्यक्ति सचमुच ही वैसा हो जाता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – मिथ्या कुछ भी अच्छा नहीं। झूठ बोलने या बुरा कर्म करने से धीरे-धीरे उसका भय चला जाता है। मन धोबी के घर का कपड़ा है, उसे जिस रंग में डालोगे, वही उस पर चढ़ जाएगा। मिथ्या में ज्यादा देर डाले रखोगे, तो मिथ्या ही हो जाएगा।

– ८३ –

भक्त के लिये सिद्धियाँ घृण्य हैं

रोग ठीक करना, मुकदमा जिताना, पानी के ऊपर पैदल चलना, ऐसी सिद्धियाँ हीन बुद्धि के लोग ही चाहते हैं। शुद्ध भक्तगण ईश्वर के पादपद्मों को छोड़ और कुछ नहीं चाहते।

हृदय ने एक दिन श्रीरामकृष्ण से कहा – "मामा, माँ से कुछ शक्ति के लिये प्रार्थना करो – कुछ सिद्धि माँगो।" श्रीरामकृष्ण का बालक-जैसा स्वभाव था। काली-मन्दिर में जप करते समय उन्होंने माँ से कहा – "माँ, हृदय कुछ शक्ति और सिद्धि माँगने के लिए कहता है।" जगदम्बा ने उन्हें तत्काल दिखाया – करीब चालीस साल की एक बूढ़ी वेश्या सामने से आकर उनकी ओर पीछा करके शौच करने लगी। माँ ने दिखाया – विभूति इसी बूढ़ी वेश्या की विष्ठा है। वे हृदय के पास जाकर उसे डाँटने लगे, क्योंकि उसी के कारण उन्हें ऐसी चीज देखनी पड़ी थी।

भगवान की भक्ति की तुलना में अलौकिक शक्तियाँ विष्ठा के समान निकृष्ट और घृण्य हैं।

– ८४ –

धर्म के बारे में किताबी बातें

जिस व्यक्ति ने ईश्वर को नहीं देखा, उसके उपदेशों का ज्यादा प्रभाव नहीं होता। कोई एक बात वह ठीक कहता है, पर हो सकता है अगली बात उल्टी-सीधी कह जाय। इस बात को समझाने के लिये श्रीरामकृष्ण अपने जीवन की एक घटना बताते हैं – मुझे एक हरिसभा में ले गये थे। वहाँ आचार्य समाध्यायी ने एक व्याख्यान दिया। कहा – ईश्वर नीरस हैं, हमें अपने प्रेम और भक्ति से उन्हें सरस कर लेना चाहिए। यह बात सुनकर मैं तो दंग रह गया। तब एक कहानी याद आ गयी। एक लड़के ने कहा था – मेरे मामा के यहाँ बहुत-से – गोशाले भर घोड़े हैं। अब सोचो, अगर गोशाला है, तो वहाँ गौओं का रहना ही सम्भव है, घोड़ों का नहीं। इस तरह की असम्बद्ध बातें सुनकर आदमी क्या सोचता है? यही कि घोड़े-सोड़े कहीं कुछ नहीं हैं!"

– ८५ –

माया का मधुर बन्धन

महेन्द्र मुखर्जी नामक एक भक्त से श्रीरामकृष्ण ने कहा – "क्यों जी, तुम्हारे न तो लड़के-बच्चे हैं, न किसी की नौकरी करते हो, तो भी तुम्हें अवकाश नहीं रहता! अजीब बात है! तुम्हारे लड़के-बच्चे भी नहीं हैं कि मन उस ओर चला जाय।

एक डिप्टी मजिस्ट्रेट है, आठ सौ रुपये महीने तनख्वाह पाता है। केशव सेन के यहाँ नाटक देखने गया था। मैं भी गया था। मेरे साथ राखाल तथा और भी कई लोग गये थे। मैं जहाँ नाटक देखने के लिए बैठा था, वहीं मेरी बगल में वे लोग भी बैठे हुए थे। उस समय राखाल उठकर जरा कहीं बाहर गया। डिप्टी साहब वहीं आकर डट गये और राखाल की जगह पर उसने अपने छोटे बच्चे को बैठा दिया। मैंने कहा – "यहाँ मत बैठाइये।" मेरी ऐसी अवस्था थी कि जो कोई जैसा कहता था, मुझे वैसा करना पड़ता था। इसीलिए मैंने राखाल को वहाँ बैठाया था। जब तक नाटक हुआ, डिप्टी बराबर अपने बच्चे से बातचीत करता रहा। उसने एक बार भी नाटक नहीं देखा। सुना कि वह बीबी का गुलाम है, उसके इशारे पर उठता-बैठता है; और एक नकबैठे बन्दर की शक्ल के बच्चे के लिए उसने नाटक नहीं देखा। ❑❑❑

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (२३)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के नाम से प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

हिन्दुओं का दृष्टिकोण

हिन्दुओं के धर्म-विश्वास के अंगभूत ईश्वर, प्रकृति तथा जीव विषयक सारे तत्त्व सुदूर ऋग्वेद के युग से ही शास्त्रों के माध्यम से अक्षत रूप से हम तक पहुँचे हैं। ऋग्वेद के बाद हजारों वर्षों तक अनेक शास्त्रों में इन तत्त्वों की व्याख्या हुई तथा विस्तारण हुआ और आज तक विभिन्न युगों में असंख्य महापुरुषों की अनुभूति के द्वारा उनकी सत्यता प्रमाणित हुई है। हिन्दू ऋषियों की अनुभूति में जीव तथा ब्रह्माण्ड विषयक कुछ अपरिवर्तनीय शाश्वत सत्य प्रकट हुए हैं। ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा जीव की मूलभूत दिव्यता इसी कोटि के दो सनातन सत्य हैं। इन दोनों को हिन्दुओं के धर्म-विश्वास की नीव कहा जा सकता है। इसी कारण हिन्दुओं का धर्म सनातन-धर्म के रूप में सुपरिचित है।

इस प्रकार के चिरन्तन सत्य की नींव पर ही हिन्दू-जीवन का सम्पूर्ण ढाँचा खड़ा है। सम्भवत: इसी कारण हजारों वर्षों के बाद भी यह ढाँचा सुरक्षित है। विदेशी शत्रुओं के बारम्बार आक्रमण, उपनिवेशों की स्थापना तथा विधर्मियों का दमनात्मक शासन भी हिन्दुओं के सामान्य जीवनधारा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं ला सका। असीरिया, बेबीलोन, मिस्र, यूनान तथा रोम के निवासियों के समान हिन्दुओं में ऐसा कोई क्रान्तिकारी रूपान्तरण नहीं हुआ, जिससे आधुनिक हिन्दू को उसके प्राचीन पूर्वजों के वंशधर के रूप में पहचानना असम्भव होता। अब भी उसे पुराकाल के ऋग्वेद के मंत्रों का पाठ करना पड़ता है और अब भी उसे प्राचीन काल के समान ही शास्त्रों के निर्देशानुसार चलना पड़ता है।

कुछ आधुनिक प्रगतिवादी लोग सोचते हैं कि हिन्दू लोग अपनी अज्ञानता के कारण ही इस प्रकार मूर्ख के समान एक मध्ययुगीन भाव को पकड़े हुए हैं। परन्तु वस्तुत: बात वैसी नहीं है। थोड़ा विचार करने से ही हिन्दुओं के ऐसे आचरण का एक सुसंगत कारण समझ में आ जाता है। हिन्दू लोग शाश्वत सत्य का त्याग नहीं कर सकते। जिस सनातन सत्य की सुदृढ़ नींव पर हिन्दू समाज स्थापित है, उससे उसे हटाने पर इस समाज का ध्वंस अपरिहार्य है। और ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

नि:सन्देह, कालचक्र की गति से हिन्दू समाज का यह ढाँचा कभी-कभी क्षतिग्रस्त भी हुआ है। परन्तु उसके पूर्णत: ध्वंस होने के पूर्व कोई अवतार या आचार्य आकर उसमें युगोपयोगी परिवर्तन तथा परिवर्धन करके मानो उसमें एक नये प्राण का संचार कर जाते हैं। युग-युग से ऐसा ही होता आया है और सर्वदा इस ढाँचे के नीचे स्थित आध्यात्मिक सत्य की वज्र-कठोर नींव अविचलित रही है। सभी युगों में 'श्रुति' या 'वेद' को ही चरम प्रमाण माना गया है। ऋषियों द्वारा आविष्कृत शाश्वत सत्यों का भण्डार होने के कारण चिर काल से ही वेद का स्थान अन्य सभी हिन्दू शास्त्रों के ऊपर रहता आया है। वैसे आचार्यगण बीच-बीच में 'स्मृति' नामक बाकी शास्त्रों में भी युगोपयोगी परिवर्तन करते रहे है। परन्तु वेद में कथित मूल तत्त्वों के साथ सामंजस्य रखकर ही स्मृतियों में ऐसा परिवर्तन किया गया है।

हिन्दू धर्म के प्रारम्भ से ही इस प्रकार की एक प्रणाली चली आ रही है। हिन्दुओं की वेदरूपी मूल शाश्वत तत्त्वों में अटूट निष्ठा और विधि-आचार आदि बाह्य विषयों में युगोपयोगी परिवर्तन के विषय में उदारता के फलस्वरूप ही हिन्दू समाज अनेक हजारों वर्षों से और आज भी टिका हुआ है।

हिन्दू समाज का एक मूलभूत तथ्य है – मनुष्य की दिव्यता। उसकी आत्मा तथा ईश्वर में अभिन्नता है; इसीलिए उसमें सर्वदा हर प्रकार से ईश्वरीय भाव का विकास करने की सम्भावना विद्यमान है। चाहे कोई कितना भी बड़ा महापाप क्यों न करे, उसके लिये अनन्त काल तक नरकवास असम्भव है। मनुष्य अज्ञान के कारण जो भूलें करता है, उसी को पाप कहते हैं। वैसे इस पाप के फलस्वरूप उसे इहलोक तथा परलोक दुख तो अवश्य भोगने पड़ते हैं, बारम्बार वैसे ही दुष्फल का भोग करने से क्रमश: उसमें सद्बुद्धि का उदय होता है; और जब तक उसके अन्तर का देवत्व पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं हो जाता, तब तक जन्म-जन्मान्तर से होकर उसका अभियान जारी रहता है। प्रत्येक व्यक्ति को उस चरम लक्ष्य तक पहुँचना होगा। इसीलिये पापियों के प्रति निष्ठुर धिक्कार के स्थान पर सहृदय आचरण की आवश्यकता है; उन्हें अज्ञान के पंजे से छुड़ाने के लिये साग्रह प्रयास की आवश्यकता है।

मनुष्य जब तक अपने दिव्य स्वरूप के विषय में अनभिज्ञ होते हुए जड़ देह और भौतिक विश्व में आसक्त रहता है, तब तक वह बन्धन की अवस्था में रहता है। तब तक वह

आकृति से मनुष्य होने पर भी उसका जीवन प्राय: पशु के समान ही होता है। तो भी उसके लिये हिन्दू धर्म में अनन्त नर्क की व्यवस्था नहीं है। जब तक मनुष्य के आदिम पशुत्व का नाश होकर उसके अन्तर में निहित देवत्व प्रकट नहीं हो जाता, तब तक यह धर्म उसे एक-एक कदम आगे बढ़ाता रहता है।

हिन्दू धर्म के मतानुसार यह गौरवमय रूपान्तरण ही मानव-जीवन का उद्देश्य है। जीवन का बाकी सब कुछ इसी उद्देश्य की प्राप्ति का उपाय मात्र है। व्यक्ति की आत्मिक उन्नति के परिपोषक के रूप में ही विद्या, धन, सन्तान आदि की सार्थकता है। यदि इनकी सहायता से उस महान् उद्देश्य की सिद्धि न हो, तो फिर इनका कोई मूल्य नहीं। आध्यात्मिक जीवन को हानि पहुँचाकर जो कुछ किया जाता है, वह सब हमारी पूर्णता की उपलब्धि में बाधक है।

अस्तु, जब तक देहासक्त मनुष्य इन्द्रियों के भोग हेतु लालायित रहता है, तब तक वह भले-बुरे भाग्य के हाथों का खिलौना – एक क्षुद्र असहाय जीव प्रतीत होता है। वह व्यक्ति अपने स्वरूप की महिमा के प्रति पूर्णत: अचेतन होने के कारण अपनी छाया को ही आत्मा के रूप में जकड़े रहता है। देह-इन्द्रियों को आत्मा समझ बैठने के भ्रम के फलस्वरूप व्यक्ति रिपुओं का दास हो जाता है। काम, क्रोध, ईर्ष्या, दम्भ और सर्वोपरि स्वार्थपरता आदि निकृष्ट प्रवृत्तियों के अधीन हो जाने पर व्यक्ति में उसके स्वरूप की एक भयंकर विकृति दीख पड़ती है। उसका पंकिल मन मानो बादलों के समान उसकी दिव्य आत्मा को ढँके रहता है। वह जिसे 'मैं' समझता है, वह वस्तुत: उसके यथार्थ स्वरूप का एक स्थूल, संकीर्ण, जघन्य तथा विकृत प्रतिबिम्ब मात्र होता है।

मनुष्य का यह प्रातिभासिक 'कच्चा मैं' उसे कामनाओं के जाल में फँसाकर जन्म-जन्मान्तरों में चक्कर लगवाता रहता है। उपनिषद् का फलभक्षक पक्षी या छाया-मूर्ति इस 'कच्चे मैं' का रूपक है।[१] समुचित आध्यात्मिक साधना के फलस्वरूप यथाकाल यह 'कच्चा मैं' लुप्त हो जाता है और तब व्यक्ति इन्द्रियों तथा विषयों के चंगुल से पूर्णत: मुक्त होकर अपने हृदय में स्थित चिर-शान्ति के राज्य में स्थित हो जाता है।

बारम्बार आघात करके 'कच्चे मैं' रूपी इस अविद्या के किले को ध्वस्त कर डालना ही साधना का उद्देश्य है। उसके नित्य नवीन कामनाओं की माँगों को निर्ममता के साथ कुचल देना ही इस दुर्ग के विध्वंस का उपाय है। इसीलिये कामना-त्याग को साधना का अविच्छेद्य अंग माना गया है। यही आध्यात्मिक जीवन की नींव है। त्याग के मार्ग से अमृतत्व की प्राप्ति होती है और हृदय-देवता प्रकट होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग नहीं है। कामनाओं का पूर्ण त्याग ही उचित है, क्योंकि इसी के द्वारा व्यक्ति ईश्वर के साथ अपनी अभिन्नता की अनुभूति कर सकता है। वैसे यह अनुभूति एक दिन में नहीं होती, या फिर सबको एक साथ ही नहीं हो जाती। तथापि इस अनुभूति को प्राप्त करना ही मनुष्य का परम लक्ष्य है – व्यक्ति चाहे जहाँ कहीं भी स्थित हो, वहीं से उसे एक-एक सीढ़ी चढ़कर क्रमश: इस चरम गन्तव्य तक पहुँचना होगा। इसीलिये इन्द्रियों तथा मन को क्रमश: वश में लाना पड़ता है। ऐसी क्रमिक उन्नति की आवश्यकता होने के कारण ही प्रवृत्ति-मार्ग में थोड़ी-बहुत कामनाओं की पूर्ति का विधान भी किया गया है।

पूर्णता की उपलब्धि के लिये कामनाओं की पूर्ण निवृत्ति आवश्यक है। आन्तरिक तथा बाह्य प्रकृति को पूर्णत: जीत पाने से ही दिव्य आत्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार प्रकृति को जीतने का उपाय है – राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग – इन चारों में से किसी एक या कुछ योगों की सहायता से निष्ठापूर्वक साधना। वस्तुत: धर्म का सब कुछ इसी में निहित है। हिन्दू धर्म अपने मन्दिरों, प्रतिमाओं, कर्मकाण्डों, पुराण-कथाओं तथा विभिन्न दार्शनिक मतवादों के द्वारा इसी सार-तत्त्व की ओर इंगित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दुओं की दृष्टि में धर्म एक आचरण-सापेक्ष अत्यन्त व्यावहारिक चीज है। धर्म का हेतु पूरे जीवन को ही नियंत्रित करना है। धर्म बताता है कि व्यक्ति को अपनी वर्तमान अवस्था से यथासम्भव दिव्यत्व की ओर अग्रसर होने के लिये उसे किस प्रकार अपने काम-काज, चाल-चलन आदि को नियंत्रित करना होगा। प्रत्येक व्यक्ति की साधना उसकी अपनी आध्यात्मिक अवस्था के स्वाभाविक आवश्यकता के अनुरूप होनी चाहिये। उसकी साधना उसकी रुचि, क्षमता तथा स्वभाव के अनुकूल होनी चाहिये। जो पथ साधक के लिये सर्वाधिक सहज-स्वाभाविक हो, वही पथ उसके लिये सर्वोत्तम है। इसी को 'अधिकारीवाद' कहते हैं।

इस सन्दर्भ में हिन्दू शास्त्रों में एक अन्य तथ्य का उल्लेख भी मिलता है और वह यह है कि एक जीवन में मनुष्य जितना आध्यात्मिक उन्नति करता है, वह कभी नष्ट नहीं होता। एक जन्म में वह जहाँ तक अग्रसर होता है, अगले जन्म में वहीं से उसकी यात्रा आरम्भ होती है। जो एक बार प्राप्त हो गया है, वह नष्ट नहीं हो सकता। बुरे कर्म के फलस्वरूप जो कष्ट उठाने पड़ते हैं, उन्हीं के माध्यम से उस कर्म का प्रायश्चित्त हो जाता है। वैसे ऐसे कर्म कुछ काल के लिये आध्यात्मिक दृष्टि को आच्छन्न करके ईश्वर-प्राप्ति की आकांक्षा को दमित रख सकते हैं, परन्तु साधना की सहायता से एक बार जो सुफल प्राप्त हो जाता है, उसे किसी भी काल में मिटाने की शक्ति उसमें नहीं है। हिन्दू धर्म के

१. मुण्डक उप., ३/१/१ (द्रष्टव्य फरवरी, २००५ का अंक, पृ. ७५)

मतानुसार पाप तथा पुण्य एक दूसरे का खण्डन नहीं कर सकते; प्रत्येक भले या बुरे कर्म का फल अलग-अलग भोग करना पड़ता है। वैसे आत्मज्ञान का उदय हो जाने पर पाप तथा पुण्य दोनों के ही हाथ से छुटकारा मिल जाता है।

ईश्वर पूरे विश्व में व्याप्त होकर विराजित हैं – यह सभी मतवादों द्वारा स्वीकृत हिन्दू समाज का एक अन्य मूलभूत सत्य है। प्रकृति के ऊपरी सतह पर परिवर्तन का चिर-गतिशील प्रवाह चलता रहता है और उसके अभ्यन्तर में परमात्मा की अखण्ड एकता विद्यमान रहती है। जैसे मणिमाला की प्रत्येक मणि के भीतर एक ही धागा पिरोया हुआ रहता है, वैसे ही विश्व के प्रत्येक पदार्थ के भीतर एक अखण्ड परमात्मा समाये रहते हैं।[२] परमात्मा स्वयं नित्य नवीन अगणित प्राकृतिक पदार्थों के रूप में मूर्त होकर अन्तर्यामी के रूप में उनका नियंत्रण करते रहते हैं – इसी कारण प्रकृति में एक अद्भुत सन्तुलन तथा सुषमा का अनन्त विस्तार दीख पड़ता है।

हिन्दुओं का विश्वास है कि वैचित्र्य के पीछे निहित एकत्व एक मूलभूत प्राकृतिक विधान है। जगत् का वैचित्र्य कोई निरर्थक अप्रत्याशित आकस्मिक घटना नहीं है – इसके पीछे यथेष्ट अर्थ निहित है। ईश्वर की आत्म-अभिव्यक्ति की अभिलाषा से ही विश्व-प्रकृति में वैचित्र्य की यह छटा दीख पड़ती है। "एकोऽहं बहुस्यामि – मैं एक हूँ, अनेक होऊँगा" – भगवान का यह अमोघ संकल्प इस अनन्त सृष्टि-वैचित्र्य के माध्यम से चरितार्थ होता है। उनकी प्रकृति में अविराम नित्य-नवीन रूप प्रस्फुटित करते रहने की असीम क्षमता विद्यमान है। इसी कारण प्रकृति पर निरन्तर विविधता की छाप बनी रहती है। यहाँ तक कि एक ही वृक्ष को किन्हीं भी दो पत्तों की आकृति ठीक एक जैसी नहीं हो सकती।

वस्तुतः प्रकृति के वक्ष पर वैचित्र्य-प्रवाह का एक ही परमात्मा द्वारा सृजन तथा नियमन होते रहने के कारण ही विश्व-प्रकृति में सौन्दर्य तथा समरसता की एक अपूर्व शृंखला दीख पड़ती है। जो लोग उसमें निहित इस एकत्व को जान लेते हैं, वे ही आन्तरिक रूप से प्राकृतिक सौन्दर्य का उपभोग कर सकते हैं। उनके अन्तर से विश्वप्रेम तथा विशुद्ध आनन्द उमड़कर समग्र पृथ्वी पर फैल जाता है और उसे वास्तविक स्वर्गराज्य में परिणत कर देता है।

'विभिन्नता का मूल एकता है' – भौतिक जगत् में अन्तर्निहित इस सूत्र को मानव-समाज के क्षेत्र में भी प्रयोग करना होगा – हिन्दू धर्म का यह एक विशेष महत्त्वपूर्ण निर्देश है। हिन्दू धर्म का कहना है कि इसी तत्त्व के आलोक में हमें अपने लक्ष्य तथा साधना से सम्बन्धित सभी व्यक्तिगत तथा सामाजिक प्रश्नों की मीमांसा करनी होगी। इस अन्तर्निहित एकता के प्रति सचेत रहकर हमें यथासम्भव इस विविधता को स्वीकार कर लेना होगा। शुष्क यांत्रिक एकरूपता स्थापित करने के स्थान पर, प्रकृति के भीतर जो सौन्दर्य तथा सामंजस्य का ईश्वरीय रूप खिल उठा है, वही हमारे लिये अनुकरणीय है। विषमता के भीतर समता की सृष्टि करना ही ईश्वर का विधान है, न कि नीरस एकरूपता की सृष्टि करना।

प्रत्येक जीव स्वभाव से दिव्य है। मानव-मानव का आपसी भेद केवल बाहर से ही दिखता है, भीतर तो शाश्वत दिव्य एकता विद्यमान है। हमारे जन्म-कर्म आदि सब कुछ बाहर अर्थात् प्रकृति में ही होते हैं। अपने मूल स्थान अर्थात् परमात्मा के पास पहुँच जाने से ही हमारी मुक्ति हो जाती है। यह मानो जीव के लिये निर्मित एक खेल है और यह खेल हमें पूरा करना होगा। यही भगवान की लीला है – वे स्वयं ही जीव-जगत् का रूप धारण करके इस विश्वव्यापी क्रीड़ा में लीन होते हैं। उनके स्वरूप का बोध होते ही इस खेल की समाप्ति हो जाती है।

मनुष्यों की जो पारस्परिक आचार-व्यवहार इस एकता की ओर ले जाते हैं, वे ही आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हैं। निःस्वार्थ प्रेम इस एकता का परिपोषक है, इसीलिये वह कल्याणकारी भी है। इसीलिये स्वार्थरहित सेवा के माध्यम से इस प्रेम का पोषण करने का विधान है। यह साधना हमें अपने चरम लक्ष्य – दिव्य एकत्व की ओर अग्रसर कराती है। हमें तब तक निःस्वार्थ सेवा के द्वारा अपने हृदय को प्रसारित करते रहना होगा, जब तक कि हम समग्र विश्व को अपनी आत्मा के रूप में अंगीकार नहीं कर पाते। वस्तुतः हृदय का विस्तार ही आध्यात्मिक सजीवता का सुनिश्चित लक्षण है।

हिन्दुओं को त्याग तथा सेवा के द्वारा हृदय को प्रसारित करने की शिक्षा दी जाती है। यही उनका धर्म है। हिन्दू-जीवन की परिकल्पना में निःस्वार्थ सेवा धर्म का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। हिन्दू समाज के ढाँचे का यह मानो एक प्रमुख स्तम्भ है। निःस्वार्थ सेवा, स्थूल 'कच्चे मैं' के ऊपर उठने में सहायता करता है, इसलिये यह सभी के लिये विहित चित्तशुद्धि का एक उत्कृष्ट उपाय है। निरन्तर सेवा-प्रधान स्वधर्म-पालन ही हिन्दू-जीवन का स्वरूप है।

❖ (क्रमशः) ❖

२. गीता, ७/७

आत्माराम की आत्मकथा (२६)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसके अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

नर्मदा के तट पर

राजा महाराज के मद्रास जाने के पन्द्रह-बीस दिन बाद नर्मदा-तट की ओर रवाना हुआ। भोपाल होकर होशंगाबाद गया। मन में इच्छा थी कि वहीं यदि कोई निर्जन स्थान मिल जाय, तो अच्छा हो। माधुकरी करके रहूँगा और यथासाध्य साधन-भजन करने का प्रयास करूँगा। मन में ऐसा भाव था कि आत्मोपलब्धि के बिना संन्यास आदि सब वृथा है, कष्ट सहना मात्र है। यदि साधना के उपयोगी स्थान न मिला, तो फिर (नर्मदा के) किनारे-किनारे चलूँगा और जगदम्बा की कृपा से जहाँ भी स्थान मिल जायेगा, वहीं ठहर जाऊँगा।

होशंगाबाद स्टेशन पर उतरते ही सीधा नर्मदा के घाट पर गया। छोटा शहर था, कोई विशेष अच्छा नहीं प्रतीत हुआ। उस समय दिन के ११-१२ बजे होंगे। उस पवित्र स्निग्ध जल में भलीभाँति स्नान करके घाट के ऊपर एक वटवृक्ष के नीचे बैठा था। मन में अच्छी शान्ति का अनुभव कर रहा था। भोजन आदि के लिये प्रयास और थोड़ी देर के बाद करूँगा – सोचकर उस ओर ध्यान न देकर नर्मदा के सौन्दर्य को – उस पार के जंगल-पहाड़ आदि को अतृप्त नयनों से निहार रहा था और सोच रहा था कि इस नर्मदा के तट पर युगों-युगों से कितने साधु-संन्यासी तथा वानप्रस्थी लोगों ने तपस्या की होगी ! इस नर्मदा तट पर कितने याग-यज्ञ आदि हुए होंगे। गंगा के बाद ही नर्मदा का स्थान है।

मैं सोच रहा था पूजनीय राजा महाराज व पूजनीय हरि महाराज कहाँ ठहरे होंगे। भला कौन बता सकेगा? वे लोग अज्ञात रूप में थे। राजा महाराज तो कहीं जाते भी नहीं थे। हरि महाराज ही भिक्षादि के लिए शहर या गाँव में जाते थे। क्या किसी परिचय से आये थे? जरूर आये होंगे। मैं मूर्ख हूँ, पूछना ही भूल गया। अस्तु, देखें, उनकी क्या इच्छा है !

इतने में दो सज्जन आकर उसी वटवृक्ष के नीचे के चबूतरे पर बैठ गये और मेरी ओर देखने लगे।

थोड़ी देर बाद एक ने कहा – "लगता है कि आप यहाँ नये ही आये हैं।

मैं – "आज की ही गाड़ी से।"

उन्होंने कहा – "ओह ! भोजन आदि हुआ है?"

– "नहीं, अभी तक नहीं हुआ है।"

वे और कुछ न बोलकर जल्दी से उठे और पीछे स्थित मन्दिर तथा धर्मशाले की ओर चले गये।

थोड़ी देर बाद आकर कहा – "आपके लिये भिक्षा का प्रबन्ध कर आया हूँ। १०-१५ मिनट में तैयार हो जायेगा। तब तक थोड़ी बातें कर ली जायँ। दो-एक प्रश्न हैं।

– "ठीक है, कहिये। ज्ञात होगा, तो बताऊँगा।"

इसके बाद वही आदिकाल का पुरातन प्रश्न – "कर्मफल क्या सबको ही भोगना पड़ता है? देखने में आता है कि अति क्रूरकर्मा व्यक्ति बड़े आनन्द में दिन बिता रहा है, क्या वह अपने कर्मों के फल का भोग करेगा? क्या मृत्यु के बाद भोग करेगा? यहाँ किया हुआ कर्म, क्या अन्यत्र फल पैदा करता है? वह कहाँ रहता है? और फलदाता कौन है?"

यथाबोध उत्तर दिया। वे लोग काफी सन्तुष्ट हुए। इतने में भोजन तैयार हो जाने की सूचना आयी। सबने मिलकर आनन्दपूर्वक खाया। तदुपरान्त पुन: आकर वटवृक्ष के नीचे बैठे। नर्मदा की शीतल वायु से देह-मन तृप्त हो उठे। जगदम्बा की कृपा देखकर अन्तर आनन्द से परिपूर्ण हो उठा।

उनमें से एक ने पूछा – "आप यहाँ कितने दिन रहेंगे?"

मैंने अपना उद्देश्य बताया।

तब वे बोले – "यहाँ से २०-२२ मील या उससे थोड़ी अधिक दूरी पर नर्मदा के किनारे मर्दानपुर नाम का एक गाँव है। वह भोपाल राज्य की एक तहसील है। गाँव के पास जंगल में एक विशाल शिव-मन्दिर है। कहते हैं कि वह पाण्डवों का बनाया हुआ है। वहाँ एक कुण्ड है, किंवदन्ती है कि भीमसेन ने वहाँ यज्ञ किया था। स्थान बड़ा निर्जन है, जैसा आप चाहते हैं, ठीक वैसा ही है। यदि आपकी इच्छा हो, तो हम उस स्थान में आपके रहने का प्रबन्ध कर सकते हैं। आपकी भिक्षा आदि की भी व्यवस्था हो जायेगी।

मुझे तो मानो साक्षात् स्वर्ग ही मिल गया।

मैं बोला – "यदि वैसा सम्भव हो, तो बड़ा ही अच्छा होगा, ऐसी ही मेरी हृदय की इच्छा है। इस मेहरबानी के लिए आप लोगों को धन्यवाद !"

– "नहीं, नहीं। यह तो हमारा कर्तव्य है, धन्यवाद मत दीजिये, बल्कि आप माँग कर सकते हैं। आप लोगों का अधिकार है।"

उसी दिन शाम को वे लोग भोपाल के लिए रवाना हुए। मैं भी नर्मदा-पार के स्टेशन तक उनके साथ ही गया। वहीं से मर्दानपुर की ओर जाना होता है। स्टेशन पर स्टेट-एक्साइज के दारोगा खड़े थे। उन्होंने उनको गाड़ी का प्रबन्ध करने को कहा और मेरे हाथ में वहाँ के तहसीलदार और बैंक के मैनेजर के नाम उर्दू में लिखा हुआ एक पत्र दिया। पत्र लिखते समय अपना परिचय दिया – 'रेवेन्यू-दीवान, भोपाल' और 'टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, भोपाल के प्राचार्य'। दीवान साहब के अनुमोदन से ही प्रिंसिपल साहब ने यह व्यवस्था की। अन्त में उन्हीं के साथ घनिष्ठता हुई थी, प्रश्न आदि भी वे ही कर रहे थे, वे जरा गम्भीर स्वभाव के थे।

खूब बलिष्ठ युवा मुसलमान दरोगा अपने दफ्तर में ले गये। वहाँ बैठने को एक चारपाई दिया और मेरे लिये रियासत की बैलगाड़ी की व्यवस्था करने प्यादे को गाँव में भेजा। इसके बाद धीरे से पूछा – "बुरा मत मानियेगा। आप क्या सी.आई.डी. के आदमी (गुप्तचर) हैं? शायद आप उस खून के मामले में खोज करने आये हैं!"

मैं कहता रहा – "नहीं भाई, मैं तो फकीर-संन्यासी हूँ, खुदा की तलाश में जा रहा हूँ।" पर उन्होंने बिल्कुल भी विश्वास नहीं किया। बोले – "देखिये, हम एक ही लाइन के लोग हैं, आदमी को पहचानते हैं।" क्या मुश्किल है!

हँसी भी आ रही थी और चिन्ता भी हो रही थी। कहीं किसी झंझट में न पड़ जाऊँ! लगता है ये कुछ ... हैं। अस्तु, आखिरकार मैंने दृढ़तापूर्वक कहा – "मैं विशुद्ध और वास्तविक संन्यासी हूँ। मेरे बारे में यदि अधिक जानना हो, तो दीवान साहब या मास्टरजी को पूछकर जान सकते हैं।" यह बात मैंने थोड़ा गरम होकर ही कही थी। तो भी उन्होंने इस बात पर विश्वास तो नहीं किया, परन्तु अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए मुझे और तंग नहीं किया।

संध्या के ठीक पहले, विशाल हाथी के समान बलवान दो बैलों से जुतकर रियासत की बैलगाड़ी आ गयी। सारी रात मुझे भयानक जंगल – भोपाल राज्य के संरक्षित वन से होकर जाना होगा। १७-१८ साल का एक मजबूत हिन्दू बालक गाड़ीवान था। हे भगवान! दरोगा से बोला – "इतनी कच्ची आयु के आदमी को लेकर उस जंगल के भीतर से होकर जाना क्या उचित होगा? थोड़े अधिक उम्र का आदमी नहीं है क्या?" पर दरोगा के उत्तर देने के पहले ही वह बोला – "मैं तो अक्सर जाता रहता हूँ। रास्ता मेरा जाना हुआ है। डर की कोई बात नहीं। और मेरे पिताजी बीमार हैं, इसीलिये दूसरा कोई नहीं है। मुझे ही जाना होगा, हुकुम है।"

सभी रियासतों में यह – 'हुकुम है' – ही अन्तिम बात है। इसके ऊपर और कुछ नहीं चलेगा। चाहे कोई कितना भी गँवार या मूर्खतापूर्ण क्यों न हो, मानना ही पड़ता है!

संध्या के काफी पूर्व ही 'जय माँ' कहकर यात्रा आरम्भ हुई। उनकी इच्छा पूर्ण हो। कृष्ण पक्ष की रात थी। निशा देवी के काले चादर से सब कुछ ढँकने के पूर्व ही हम खूब घने जंगल में जा पहुँचे थे।

सहसा दोनों बैलों ने पूँछ उठाकर बड़े वेग से आप्राण दौड़ना आरम्भ किया। मैंने सोचा – इन्होंने जरूर बाघ देखा है। मैंने बड़े जोरों से गाड़ी को पकड़ रखा था। जंगल का पहाड़ी रास्ता ऊँचा-नीचा और ऊबड़-खाबड़ था, अत: हालत की सहज ही कल्पना की जा सकती है। गाड़ी का पहिया धड़ाम की आवाज के साथ एक पेड़ से जा टकराया। लड़का चतुर था, वह तड़ाक से उछलकर थोड़ी दूर जा गिरा और मैं धक्के से छिटककर १५-२० हाथ दूर जा पड़ा। सौभाग्यवश विशेष चोट नहीं लगी, केवल हाथ थोड़ा-सा छिल गया था। लड़के को भी थोड़ा-सा पाँव में लगा था। गाड़ी मजबूत थी, इसलिये टूटी नहीं और बैलों को भी कुछ नहीं हुआ। (बैल देखने में हाथियों जैसे थे और डेढ़ हजार रुपये जोड़े के थे। अच्छे नमूने थे।) जल्दी से उठकर बाघ देखने को चारों ओर नजर घुमाया, परन्तु व्याघ्र-देवता कहीं नजर नहीं आये। इस दौरान बैल दौड़ते हुए गाड़ी को लेकर काफी दूर निकलकर आँखों से ओझल हो गये थे। लड़का उन्हें पकड़ने के लिये दौड़ पड़ा था। मैं अकेला ही खड़ा रहा। प्रति क्षण बाघ के आगमन और मेरे यम-सदन जाने की आशंका हो रही थी। – "तो शायद जगदम्बा की यही इच्छा थी।" देखा कि पास ही एक झाड़ी में दो नीलगायें खड़ी हैं और फटी-फटी आँखों से मेरी ओर देख रही हैं। अस्तु, विश्वास हुआ कि बाघ महाशय वहाँ नहीं है, क्योंकि उनके पास रहने पर तो ये इस प्रकार खड़ी नहीं रहतीं। परन्तु दोनों बैल इस प्रकार दौड़े क्यों? क्या नीलगायों को देखकर? अस्तु अन्य कोई चारा न देख, गाड़ीवाले की तलाश में चला। अन्धकार फैला हुआ था। रास्ता बड़ी मुश्किल से दिख रहा था। हिरनों की 'कुक्-कुक्', भाग रहे खरगोशों की 'खड़-खड़' और 'झीं-झीं' की कर्ण-बधिर-कारी संगीत के सिवा और कुछ भी सुनाई नहीं दे रहा था। लगभग आधे मील से अधिक चलने के बाद देखा – एक खुली जगह में – वहाँ बाघ मारने के लिये मचान बँधी हुई थी – गाड़ी लिये वह लड़का मेरा इन्तजार कर रहा है। उसके मुख पर भय का कोई चिह्न तक नहीं है।

मुझे देखते ही वह हँसते हुए बोला – "लगता है आपको खूब चोट लगी है।"

मैं – "चोट तो नहीं लगी, लेकिन देख रहा था कि बैल डरे क्यों? पास की झाड़ी में दो नीलगायें खड़ी थीं, तो... ।"

– "हाँ बाबाजी, बैल बहुत डरते हैं। नीलगायें बैलों को सिंगों से गोदकर मार डालती हैं। रामजी ने ही बचाया। ये तो बाघों से भी ज्यादा भयभीत नहीं होतीं।"

– "क्या कहता है? बाघ को मिल जायँ, तो वह उनका हलुआ बना देगा। नीलगाय तो ज्यादा कुछ नहीं कर सकेगी ! और ये (बैल) भी तो सिंगों से मारेंगे।"

– "नहीं बाबाजी, यह सच है, ये लोग बाघ से कहीं अधिक नीलगाय से डरते हैं।"

गाड़ी फिर पूर्ववत् 'खटांग्-खटांग्' करते हुए चलने लगी। मैं भी चुपचाप बैठा था और वह लड़का भी। इसके बाद बड़े आश्चर्य से देखा कि लड़का बैठे-बैठे ही थोड़ा झुककर नींद लेने लगा। पर मुझे एक तो बैलगाड़ी पर चढ़ने का अभ्यास नहीं था और फिर ऐसा बियावान जंगल ! मेरी आँखों में तो निद्रा का नाम तक न था।

ऐसा न होने पर क्या ये लोग जंगल में रह सकते हैं ! या यह कार्य कर सकता है ! धन्य हो ! लड़के ने क्रमश: बैलों के लगाम की रस्सी को गाड़ी के एक खूँटे में बाँधा और कपड़ा ओढ़कर पाँव मोड़कर सो गया। तब मजबूर होकर मैंने ही बैलों की लगाम पकड़ी। करता भी क्या? जीवन में यह पहला ही मौका था। केवल गाड़ी जब नीचे की ओर उतर रही थी, तभी ... ...

आधी रात का समय। कानों में दूर से गर्जन की आवाज सुनायी देने लगी – जंगल के राजा का गर्जन। दोनों बैलों ने चौंककर दौड़ना शुरू किया, फिर छिटककर गिर जाने का भय था। गाड़ी उलटने की भी आशंका थी। आसपास सब कुछ निस्तब्ध था। बीच-बीच में सूखे पत्तों की फड़फड़ाहट सुनाई दे जाती थी और हिरनों की चकित दौड़ ! इसके अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई या सुनाई नहीं दे रहा था।

सारी रात इसी प्रकार बीती। और कोई घटना नहीं घटी। सुबह लड़का नींद से उठकर कहने लगा – "आप क्या सोये नहीं? रास्ता एक ही है। इसलिये गलती होने की सम्भावना नहीं है और ये बैल कई बार आये-गये हैं, इसलिये रास्ता जानते हैं।" मैं तो सुनकर अवाक् रह गया। ये लोग सर्वदा बाघ के ही राज्य में रहते हैं, इसलिये इनमें 'बाघ का भय' नहीं है। भय होता, तो रह नहीं पायेंगे। खेती-बारी, चलना-फिरना – सब कष्टकर हो जायेगा। जीवन और भी दुर्वह हो जायेगा। वेदान्त का – "मैं आत्मा हूँ। मेरी जन्म-मृत्यु नहीं है। देह नश्वर और आत्मा नित्य अमर है। मैं देह नहीं हूँ, देह के नाश से मेरा नाश नहीं होता" – आदि का केवल विचार मात्र ही यह निर्भीकता नहीं ला सकेगा। वैसे जो लोग आत्मविद् हैं, उनकी बात अलग है, या जिनमें उपरोक्त विचार खूब दृढ़ हो चुके हैं, उनकी बात भी नहीं कह रहा हूँ। मैं केवल साधारण वेदान्ती के बारे में कह रहा हूँ।

सुबह के साढ़े नौ या दस बचे हम मर्दानपुर पहुँचे। बैंक की शाखा के प्रबन्धक तथा तहसीलदार को पत्र दिया। वह भूतपूर्व एलाइएंज बैंक की शाखा थी, रियासतों के साथ समझौता करके, अनेक रियासतों में ये लोग राज्य-कर जमा रखते थे और कृषि-ऋण भी दिया करते थे। अर्थात् खजाना या टैक्स आते ही सीधे बैंक में जमा हो जाता था और इसके लिये रियासत को कुछ सूद भी मिलता था। पिछले महायुद्ध के अन्त में जो मंदी (Depression) आयी थी, उसके धक्के तथा अन्य कारणों से वह फेल हो गया। उसके नीचे ही इम्पीरियल बैंक का स्थान था। बहुत-से लोग रास्ते पर आ गये। अन्त में इम्पीरियल बैंक ने पहले उसका ५०%, और उसके बाद फिर २५% – इस प्रकार कुल ७५% देकर उसके सारे व्यवसाय का अधिग्रहण कर लिया था।

उसी बैंक के स्थानीय मैनेजर ने पहले तो अपने पास ही रखा। बाद में उनके परिचय देने पर पता चला कि वे उक्त प्राचार्य – मास्टरजी के भतीजे हैं। सुन्दर डील-डौल – ये लोग कानपुर के तिवारी थे। तहसीलदार मुसलमान थे। वह दिन परिचय तथा ग्राम-दर्शन कराने में बीता। अगले दिन सुबह तहसीलदार तथा मैनेजर पूर्वोक्त मन्दिर तथा स्थान दिखाने ले गये। वैसे दोनों का ही मत था कि वहाँ रहना सुरक्षित नहीं है, क्योंकि वह स्थान संरक्षित वन के थोड़ा भीतर ही स्थित था और वहाँ बाघ का बड़ा उपद्रव था। उनकी दृष्टि में इससे अच्छा तो यह होगा कि गाँव के पास ही नर्मदा के तट पर एक झोपड़ी बनाकर निवास किया जाय। मेरी स्वीकृति होने से २-४ दिनों में ही सब हो जायेगा, क्योंकि आपकी सुविधा के लिये जो भी आवश्यक हो, वह कर देने का 'हुकुम' हुआ है।

शिव-मन्दिर विशाल था। मन्दिर ठीक ही था, लेकिन

उसके आसपास अनेक मकानों के ध्वंसावशेष पड़े हुए थे। देखने से प्रतीत हो रहा था कि कभी वह स्थान काफी बृहत् और भव्य रहा होगा! ईंट तथा पत्थर से बना हुआ पक्का चबूतरा था, जो बिल्कुल नर्मदा तक चला गया था। वह अंश बिल्कुल स्वच्छ था, वृक्ष आदि कुछ नहीं हैं। नर्मदा से मन्दिर करीब हजार हाथ या उससे अधिक ही होगा।

कमरा एक ही मिला, उसमें भी छत और दरवाजे नहीं थे। वह मन्दिर के द्वार के बाहर था और सामने से नर्मदा का दर्शन होता था। सुन्दर था, पसन्द आया। मैंने उसी को चुना और भीतर थोड़ी सफाई करवाकर धूनी के लिये काठ रखवा देने को कहा। वर्षा हुई तो मन्दिर में चला जाऊँगा और बाकी समय रहने के लिये तो वह अच्छा ही था। लगा कि परिक्रमा करनेवालों में से कोई-कोई उसी कमरे में ठहरा करते हैं।

अनेक साधु, वानप्रस्थी, ब्राह्मण गृहस्थ तथा भिखारी नर्मदा की परिक्रमा किया करते हैं। रास्ते भर करीब-करीब हर गाँव में सदाव्रत है। अधिकांश स्थानों में चावल, गेहूँ, बाजरा, आटा, चने की दाल, नमक, मिर्च मिलते हैं। कहीं-कहीं बहुत अच्छी चीजें भी देते हैं। यही उन लोगों का आधार है। ये लोग प्रसन्न चित्त से इन्हीं सब के द्वारा स्वादिष्ट भोजन तैयार करते हैं। अधिकांश लोग एकाहारी होते हैं।

तहसीलदार ने कहा कि २-३ दिनों में वैसी ही व्यवस्था हो जायेगी। और भिक्षा के विषय में कहा – "आप स्वयं क्यों कष्ट करेंगे! एक ब्राह्मण को सब दे दिया जायेगा और वह प्रतिदिन आपको रोटी-सब्जी तथा दूध दे जाया करेगा।" – वही ठीक रहेगा। जिस दिन वहाँ रहने आया, साथ में तहसीलदार तथा वह ब्राह्मण भी वहाँ आये थे। रास्ते में तहसीलदार ने कहा – "आपको एक बात बता देना उचित समझता हूँ। ऐसा कहते हैं कि इस मन्दिर में एक जबरदस्त जिन्न है। वह यहाँ किसी को भी टिकने नहीं देता। भय से कोई-कोई तो पागल-जैसा, या फिर कोई-कोई बेहोश हो गया और २-४ दिन बाद मर भी गया। आपको इसलिये बता रहा हूँ कि बाद में दीवान साहब और मास्टरजी मुझे ही दोष देंगे कि उन्हें पहले से ही सावधान क्यों नहीं कर दिया!"

मैं बोला – "अच्छा हुआ कि आप अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो गये। इसके लिये आपको कोई दोष नहीं देगा। तो फिर रहकर देख लूँ। हो सकता है वह जिन्न मेरा कुछ न भी करे।" भोजन करके ही आया था। साथ में रात के लिये एक लोटे में दूध था। पहुँचाकर उन लोगों के चले जाने के बाद धूनी जलाया – "देवी जागो, जागो माँ!"

घोर अँधेरी रात थी। नर्मदा की कल-कल ध्वनि और बीच-बीच में हिरण की आवाज सुनाई दे रही थी। सामने प्रज्वलित अग्नि मन को आकृष्ट करके एकाग्र कर रही थी। मन अन्तर्मुख होकर स्व-भाव में स्थिर हो रहा था। उसी समय दो-तीन सौ हाथ दूरी पर, उस विशाल चबूतरे पर ही 'दप' से एक हरे रंग की चमकीली रौशनी जलकर तत्काल बुझ गयी! मन में आया – यह क्या था? यही जिन्न था क्या? रौशनी फिर दप से जल उठी और इससे अन्धकार और भी सघन हो उठा। – "न जाने क्या संकट है!"

जिन्न के लिये तैयार बैठा रहा। एक लम्बा-सा डण्डा था, उसे पास ही रखे रहा – "कौन जाने यदि आकर आक्रमण ही कर बैठे! वैसे एक टक्कर लिये बिना नहीं छोड़ूँगा। उसके बाद जो भाग्य में होगा, सो होगा।" परन्तु वह और निकट नहीं आया – उसी प्रकार दूरी पर ही बीच-बीच में दप से जल उठता था। और कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। सुन रखा था कि जलीय भूमि में सड़ा हुआ गैस – दूषित वायु उसी प्रकार कभी-कभी जल उठती है, उसका रंग भी लगभग वैसा ही होता है, परन्तु यहाँ तो ठोस ईंट-पत्थर की जुड़ाई से बना हुआ चबूतरा था। तो फिर यह क्या हो सकता है? सुन रखा था – एक प्रकार का विषधर सर्प होता है, जिनके मुख में फासफोरस होता है। वे जब कीड़े-मकोड़े खाने जाते हैं, तब उनके मुख से उसी प्रकार दप से रोशनी निकल पड़ती है। – "तो फिर यह साँप ही है क्या? तो फिर मुझे सावधान रहना होगा।"

सारी रात बैठकर ही बीती। लगता रहा – जिन्न अब आया, तब आया! सुबह होते ही जिन्न अदृश्य हो गया। तब स्नान आदि करने के लिये लाठी को लेकर निकला। पहले तो सीधे उसी स्थान पर गया, जहाँ पर जिन्न का प्रकाश दिखा था। वहाँ कोई छिद्र तो नहीं था, पर पत्थरों के बीच एक बड़ा गड्ढा अवश्य था। – "तब तो लगता है कि साँप ही होगा। जरा देख ही लूँ" – यह सोचकर लाठी को उसके भीतर घुसा दिया। – हे भगवान! यह क्या है! करीब बीस हाथ दूर उस गड्ढे के दूसरे मुख से फट से एक छोटा जानवर निकलकर खड़ा हो गया। देखने में सुन्दर था, रंग कुछ-कुछ सियार जैसा था, पूँछ बालों के कारण फूला-फूला लग रहा था। आँखें बड़ी-बड़ी! काफी कुछ पिकानिज लेडीज लैपडाग के आकार का था। (बाद में किसी ने कहा था कि वह फेऊ है, परन्तु किसी दिन उसकी आवाज नहीं सुनाई दी।)

पकड़ने की इच्छा हुई। जैसे ही उस गड्ढे की ओर गया, वैसे ही वह झट से उसमें घुसकर इधर से निकल आया और फिर मेरी ओर देखने लगा। इसी प्रकार थोड़ी देर तक उसके साथ खेल चलता रहा। परन्तु यह बात समझ में नहीं आयी कि यही वह जिन्न है या नहीं।

दोपहर के बाद ब्राह्मण भोजन तथा दूध लेकर आ पहुँचा। उसने पूछा – जिन्न आदि कुछ दिखा या नहीं?

मैं बोला – रात में एक हरे रंग की रौशनी दिखी थी, परन्तु वही जिन्न है या नहीं – समझ नहीं पा रहा हूँ।

ब्राह्मण के दोनों नेत्र फटे-के-फटे ही रह गये। वह और कुछ कहे बिना ही लौट गया।

सोचा – अब शायद वह दुबारा नहीं आयेगा। परन्तु क्या वह 'हुकुम' का पालन किये बिना रह सकेगा?

दूसरी रात फिर उसी धूनी के सामने बैठा था, परन्तु मन बारम्बार उस जिन्न की तलाश में ही जा रहा था। लग रहा था कि इसका निर्णय हुए बिना मन स्थिर नहीं होगा। फिर वही दप से जला। साहस जुटाकर हाथ में लाठी लिये सीधे उस गड्ढे के पास गया। देखता हूँ कि वही जानवर जोर से दौड़कर उस गड्ढे में घुस गया। और कुछ देख नहीं सका। और उस अन्धकार में कुछ देख पाना भी बड़ा कठिन था। बहुत देर बाद फिर उसी स्थान पर दप से हरी रौशनी जल उठी। बस, वह जानवर ही जिन्न है और सब लोगों को उसी ने भयभीत कर रखा है! मैं मन्दिर की ओर लौट आया। इसके बाद फिर उस ओर मन नहीं गया। परन्तु उस दिन पास ही कहीं गरज रहे बाघ की आवाज से भी मन अस्थिर हो रहा था। सामने अग्निदेव धू-धूकर जल रहे थे। भय की कोई बात न थी। समझ गया कि इसी प्रकार रात में जागरण और दिन में विश्राम करना होगा। अच्छा ही है, थोड़ा अभ्यास हो जाने पर फिर इतने डिस्टर्बेंस का बोध नहीं होगा।

अगले दिन देखा – तहसीलदार ब्राह्मण को साथ लेकर आ पहुँचे हैं। कुशल प्रश्न आदि के पश्चात् उन्होंने पूछा – "स्वामीजी, सुना कि आपने कुछ देखा है!"

– "हाँ, एक प्रकाश देखा है।"

– "क्या! तब तो आपने जिन्न ही देखा है!"

– "हो सकता है। आप भी देखेंगे?"

– "जी नहीं, मैं गृहस्थ हूँ, गरीब आदमी हूँ। आप फकीर ठहरे। अच्छा! लगता है आप मंत्र जानते हैं? इसीलिये आपको डर नहीं लग रहा है।"

– "नहीं जी, मैं मंत्र-तंत्र आदि कुछ भी नहीं जानता। परन्तु यदि आप देखना चाहें, तो अभी दिखा सकता हूँ।"

– "नहीं, नहीं, अरे बाप रे! आप भय क्यों दिखा रहे हैं? आपकी दुहाई हो!" – कहकर चिल्ला वे उठे।

उनका साहस बढ़ाते हुए मैंने कहा – "मियाँ साहब, क्या मैं ऐसा निर्दय हो सकूँगा या ऐसा कुछ कर सकूँगा, जिससे आपका अनिष्ट हो? विश्वास कीजिये, मैं आपका कोई भी अनिष्ट नहीं होने दूँगा।"

देखा – ब्राह्मण फटी-फटी आँखों से मेरी ओर देख रहा है। समझ गया कि भीतर-ही-भीतर वह बड़ा भयभीत हो रहा है। उसे भी आश्वासन देकर मैं उस गड्ढे के पास ले गया। ज्योंही उसमें लाठी घुसाई, त्योंही वह जन्तु बाहर निकल आया। मैंने कहा – "यह देखिये मियाँ साहब, यह रहा आपका जिन्न! यही सबको डराता और भगाता रहता है।"

मियाँ साहब को तब भी विश्वास नहीं हुआ और न ब्राह्मण भाई को ही हुआ था। खैर, लौटकर सारी घटना सुनकर दोनों को थोड़ा विश्वास हुआ। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि वहीं जन्म लेकर भी वे लोग इस जन्तु के बारे में कुछ नहीं जानते थे। मैं आज तक उसका नाम नहीं जान सका। कोई-कोई कहता है कि वह फेऊ था, पर इतनी अधिक अग्निवत् झलक क्या फेऊ के मुख में रहती है?

बहुत-से लोग इसी प्रकार भयभीत हो जाते हैं। भूत-प्रेत-जिन्न आदि बहुधा व्यर्थ की कल्पना – भय या आतंक की ही सृष्टि होते हैं। यह सच है कि प्रेत-योनि होती है, परन्तु सभी लोग उन्हें नहीं देख पाते। उनकी इच्छा हो, तो शायद ऐसा सम्भव हो, परन्तु सौ में निन्यानबे मामलों में कल्पना तथा भय ही काम करती है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

पुरखों की थाती

अलंकारप्रियो विष्णुः जलधाराप्रियः शिवः।
नमस्कारप्रियो भानुः ब्राह्मणो भोजनप्रियः।।

– भगवान विष्णु अलंकार पसन्द करते हैं, शिवजी जलधारा से सन्तुष्ट होते हैं, सूर्य देवता नमस्कार से सन्तुष्ट होते हैं और ब्राह्मण भोजन को प्रिय मानते हैं।

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्।
अमृतं भोजनार्थे तु भुक्तस्योपरि तद्विषम्।।

– पाचन ठीक न हो तो जल दवा के समान उपकारी है, पाचन ठीक हो तो जल बलवर्धक है, भोजन के साथ पीया जानेवाला जल अमृत है और भोजन के बाद पीया गया जल विषवत् हानिकारक है।

आनृशंस्यं ही परो धर्मः।

– अक्रूरता, अहिंसा या दया ही परम धर्म है।

अनेके फणिनः सन्ति भेकभक्षणतत्पराः।
एक एव हि शेषोऽयं धरणीधारणक्षमः।।

– पृथ्वी पर ऐसे असंख्य सर्प होते हैं, जो मेढकों को खाने में तत्पर रहते हैं, परन्तु एकमात्र शेषनाग ही ऐसे हैं जो पृथ्वी को सिर पर धारण करते हैं। अर्थात् दुनिया के अधिकांश लोग अपनी उदरपूर्ति के प्रयास में ही लगे रहते हैं, परन्तु कोई-कोई दधीचि आदि महापुरुष पृथ्वी का भार लाघव करने में समर्थ हैं।

कविता-कुंज

- १ -

आत्मा जगा गये

श्याम निगम

स्वामी विवेकानन्द जन्मे थे भारत में,
पराधीन भारत की आत्मा जगा गये ।।

परमहंस रामकृष्ण देव के कुशल सपूत,
गुरु और शिष्य का नाता निभा गये ।।

घूम-घूम भारत की गली-गली, गाँव-गाँव,
ऊँच-नीच, छुआ छूत भेद को मिटा गये ।।

भारतीय संस्कृति, चिरन्तन इस धरती पर,
जाकर शिकागो में विश्व को बता गये ।।

छोटी-सी आयु में अकेले प्रवास किया,
देव-ऋषि-पितृ-ऋण पूरा चुका गये ।।

करुणा से पूर्ण उर ले के पधारे थे,
देशियों-विदेशियों को अपना बना गये ।।

युग में विज्ञान के वे धर्मसूर्य उदित हुए,
ज्ञान का प्रकाश दिया, सभी जगह छा गये ।।

कवि थे, गायक थे, त्यागी संन्यासी थे,
सुदृढ़ साधना से सारे जग को जगा गये ।।

- ३ -

मेरा जीवन धन्य बनाओ

विवेक प्रकाश सिंह

रामकृष्ण, प्रभु तुम अवतारी,
परम सिद्ध कालिका-पुजारी ।
माया तिमिर हृदय में फैला,
भाव-भक्ति का दीप जलाओ ।।

धर्मधाम के रक्षक हो तुम,
लोभ मोह के भक्षक हो तुम ।
प्यासा पंक्षी भटक रहा है,
ज्ञानसुधा से प्यास बुझाओ ।।

जीवन में घनघोर अँधेरा,
मन में द्वन्द करें नित फेरा ।
हृदि-मन्दिर चिर रिक्त पड़ा है
आकर स्वामी तुम बस जाओ ।।

मन के इस निर्जन उपवन में,
रोम-रोम, बुद्धि, तन-मन में ।
भक्ति-ज्ञान का संचारण कर
मेरा जीवन धन्य बनाओ ।।

- २ -

त्रिपद-पंचक

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

प्रेम तुला पर तोलिये ।
जो सबको सुख दे सके,
ऐसी वाणी बोलिये ।।

मन ही सच्चा मीत है ।
मन के हारे हार है,
मन के जीते जीत है ।।

अपना मन मत मार रे ।
ऊर्ध्वमुखी कर कंज-सा,
मन का कर उद्धार रे ।।

जो न आत्म को जानते ।
टिट्टिम खग की भाँति वे,
पद ऊपर को तानते ।।

सारा अग-जग राम का ।
बिना राम, सुरधाम भी,
है न किसी भी काम का ।।

- ३ -

विवेक-वाणी

जितेन्द्र कुमार तिवारी

मनुज, तुम ईश्वर की सन्तान ।
धरा पर देव-तुल्य अम्लान ।।
न कोई तुमको घेरे पाप,
हो पावन तुम आत्मा निष्पाप ।
परम आनन्द के भागीदार,
पूर्ण हो तुम खुद अपने आप ।।
भेड़ होने का मिथ्या भान,
छोड़ दो सिहों की सन्तान ।।

तुम हो नित्य-शुद्ध औ मुक्त,
धन्यता से हो तुम परिपूर्ण ।
नहीं आत्मा में कोई खोट,
अमरता से भी हो तुम पूर्ण ।।
न सकता कोई तुमसे छीन,
तुम्हारा स्वाभिमान-सम्मान ।।

नहीं तुम केवल हो जड़-देह,
न जड़ता तुम में निःसंन्देह ।
नहीं, हो तुम जड़ता के दास,
नहीं जड़ता से तुमको स्नेह ।।
चेतना से परिपूरित प्राण,
न पहनें जड़ता का परिधान ।।

भारतीय संस्कृति के चार पुरुषार्थ

डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

(७ अक्टूबर २००४ को रायपुर के विवेकानन्द विद्यापीठ द्वारा प्रतिवर्ष आयोजित होनेवाले तीन दिवसीय स्वामी आत्मानन्द व्याख्यान-माला के अन्तर्गत, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग की प्राध्यापिका डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा ने चारों पुरुषार्थों पर जो सारगर्भित व्याख्यान दिया था, यह लेख उसी का अनुलिखन है। इसे 'विवेक-ज्योति' के लिये श्री वीरेन्द्र कुमार वर्मा ने लिपिबद्ध किया है। – सं.)

मुझसे जब इस व्याख्यान के विषय के बारे में पूछा गया, तो मैं सोचती रही कि विषय कुछ ऐसा होना चाहिए, जिसकी सार्वजनीन उपयोगिता हो। सबके लिये जिसमें रुचि हो, सबके लिये जो लाभप्रद हो, विषय ऐसा होना चाहिये। और तब मेरे मन में आया कि क्यों न मैं भारतीय संस्कृति द्वारा प्रस्थापित चार पुरुषार्थों के विषय में कुछ कहूँ।

आप जानते हैं कि भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थों की संकल्पना है – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। परन्तु वस्तुत: ये क्या हैं – इस विषय में बड़ी स्पष्ट धारणा प्राय: लोगों की नहीं होती। चार पुरुषार्थों की यह संकल्पना भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों में है। चार आश्रम, चार वर्ण और चार पुरुषार्थ – ये प्राचीन भारतीय संस्कृति के वे आधारभूत मूल्य हैं, जिनको केन्द्र में रखकर भारतीय जाति ने एक महनीय संस्कृति का निर्माण किया है। बड़े सोच-विचार और सहस्रों वर्षों के चिन्तन, अनुभव तथा आत्ममन्थन के पश्चात् ही भारतीय संस्कृति द्वारा ये सिद्धान्त या मूल्य स्थापित किए गए हैं और ये मनुष्य के लिए, समाज के लिए, राष्ट्र के लिए तथा विश्व के लिए परम हितकर हैं। इसीलिए आज मैं इन पुरुषार्थों की सैद्धान्तिक दृष्टि से थोड़ी व्याख्या करूँगी।

पुरुषार्थ किसे कहते हैं? **पुरुषेण अर्थ्यते – प्रार्थ्यते इति पुरुषार्थः** – व्यक्ति जो चाहता है उसे पुरुषार्थ कहते हैं। सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि पुरुषार्थ की धारणा वस्तुत: क्या है? पुरुषार्थ है क्या? यह कोई पदार्थ है? यह कोई क्रिया है? यह कोई वस्तु है? सर्वप्रथम मैं इस ओर आपका ध्यान आकर्षित करूँगी कि पुरुषार्थ कोई पदार्थ या क्रिया नहीं है। पुरुषार्थ उसे कहते हैं, जिसे आजकल हिन्दी में 'मूल्य' कहते हैं। हम सब सांस्कृतिक मूल्यों की, शैक्षिक मूल्यों की, आध्यात्मिक मूल्यों की बातें करते हैं, लेकिन प्राय: हम सब रुककर यह विचार नहीं करते कि मूल्य का तात्पर्य क्या है? मूल्य का अर्थ यहाँ कीमत (price) नहीं है। यह मूल्य है क्या? इसके लिये अँग्रेजी शब्द है – Value। वस्तुत: हिन्दी में जो यह मूल्य शब्द प्रचलित हुआ है, यह अँग्रेजी के Value शब्द का अनुवाद मात्र है।

सामान्य रूप से हम जब किसी पदार्थ को जानते हैं, तो वह पदार्थ हमारे भीतर किसी-न-किसी प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। वह पदार्थ या तो हमें अच्छा लगता है या बुरा लगता है। अगर वह पदार्थ हमारे अनुकूल होता है, प्रिय लगता है, तो हम उसे प्राप्त करने की इच्छा करते हैं और यदि वह हमें अनुकूल नहीं होता, अप्रिय लगता है, तो हम उससे दूर होने की चेष्टा करते हैं। अत: किसी भी पदार्थ का ज्ञान अनिवार्य रूप से किसी-न-किसी चेष्टा को, किसी-न-किसी क्रिया को जन्म देता है। पदार्थ की अनुकूलता या प्रतिकूलता के आभास से हमारे मन में या तो उसे प्राप्त करने की या उससे दूर जाने की इच्छा उत्पन्न होती है।

उस इच्छा के बाद एक चेष्टा होती है, प्रयत्न होता है। और तत्पश्चात् हमें उस पदार्थ की प्राप्ति होती है। किसी भी चाही गई वस्तु की प्राप्ति, उसकी अन्तिम स्थिति है, पुरुषार्थ है। पदार्थ पुरुषार्थ नहीं है। वस्तुतः पदार्थ की प्राप्ति के बाद होनेवाला मानसिक अनुभव ही पुरुषार्थ है। इसीलिए भारतीय संस्कृति ने सोच-समझकर इसके लिए एक शब्द और चुना है और वह है 'इष्ट'। हमारे यहाँ दो धारणाएँ है – इष्ट और अनिष्ट। इष्ट वह है जिसे हम सब चाहते हैं और अनिष्ट वह है जिसे हम नहीं चाहते। पुरुषार्थ एक सकारात्मक धारणा है। जो कुछ हम चाहते हैं, उसको चाह लेने के बाद, जिस तृप्ति का, जिस सार्थकता का हमें अनुभव होता है, उसी को मूल्य या Value कहा जाता है। Value हमेशा अनुभवात्मक होता है। इसलिए पुरुषार्थ हमेशा साध्य होता है, लक्ष्य होता है, एक मूल्य होता है, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं। यह जो किसी भी पदार्थ की प्राप्ति है, यह फलरूप है। संस्कृत भाषा में इसे फलवाप्ति कहते हैं, फल-प्राप्ति कहते हैं, वह अनुभव के रूप में होता है और उसे हम पुरुषार्थ कहते हैं।

मनुष्य की जो तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ है – पहली है ज्ञान, दूसरी है इच्छा और तीसरी है क्रिया। पुरुषार्थ की संकल्पना में इन तीनों का उपयोग हो जाता है। मनुष्य का जितना भी व्यवहार होता है, उसमें ये तीनों तत्त्व काम करते हैं – ज्ञान, इच्छा और क्रिया। इन तीनों के समन्वय को ही हम पुरुषार्थ के नाम से जानते हैं। संक्षेप में कहें तो पुरुषार्थ वह साध्य है, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं। यह अनुभव-रूप है। और तीसरी बात यह कि इसमें व्यक्ति की बौद्धिक, भावनात्मक और शारीरिक – तीनों प्रमुख शक्तियों या सामर्थ्यों अर्थात् ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया – इन तीनों का समन्वय होता है। पुरुषार्थ की मूल धारणा में इन तीनों का समन्वय होता है।

दूसरी बड़ी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसे हमने पुरुषार्थ क्यों कहा? क्योंकि वस्तुओं को चाहने की क्रिया और चेष्टा तो पशु-पक्षियों में भी होती है। क्षुद्रतम कीटों में भी होती है। तो हमने इसे पुरुषार्थ क्यों कह दिया? अन्य प्राणियों की क्रियाओं से हमने उन्हें अलग क्यों कर दिया? यह भी एक बड़े रहस्य की बात है। एकमात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जिसे अपनी चेष्टाओं के फल का कुछ पूर्वानुमान होता है। पशु तो भूख लगने पर चारे की तलाश करता है और मिलते ही खाना प्रारम्भ कर देता है और पेट भर जाने पर विरत हो जाता है। वहाँ से चला जाता है। पर भूख क्या है – इसकी कोई धारणा, उसके मन या बुद्धि में नहीं है। खाने के बाद उसका पेट भरता है, मगर तृप्ति की धारणा का कोई अनुमान पशु को नहीं होता। ऐसा अनुमान केवल मनुष्य में ही होता है और इसलिए होता है कि जहाँ मनुष्य में अपने से बाहर की चीजों को, दूसरी चीजों को जानने की सामर्थ्य होती है।

मनुष्य में एक अन्य अद्भुत क्षमता भी होती है और वह है Self-awareness (स्व-संवेदना या स्व-चेतना)। दर्शन या मनोविज्ञान पढ़नेवाले इसे जानते हैं। यह स्व का बोध ही व्यक्ति में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की धारणा विकसित करती है। शतपथ ब्राह्मण में एक बड़ा सुन्दर प्रसंग है, जहाँ कहा गया है कि एकमात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो जानी हुई बात को कह भी सकता है। हम अपने आपको जानते हुए वस्तु को भी जानते हैं। अर्थात् हम जान रहे हैं कि हम यह जानते हैं। यह जो स्व-संवेदन है, इसी के आधार पर मनुष्य अपनी चेष्टाओं का, अपनी इच्छाओं का, अपने कार्यों का मूल्याकंन करने में समर्थ होता है। इसको आप आत्म-विश्लेषण कह सकते हैं। हम सब अपने विचारों को, अपनी क्रियायों को अपनी चेष्टाओं को देख सकते हैं और हम यह जानते हैं कि हम इनको देख सकते हैं और इसीलिए हम उनका मूल्यांकन कर सकते हैं। अत: **मनुष्य द्वारा जो कुछ साध्य होता है, उसी को पुरुषार्थ कहा जाता है।** पशु-पक्षियों द्वारा जो साध्य होता है, उसे पुरुषार्थ नहीं कहा जाता, क्योंकि वे प्रवृत्तिगत व्यवहार (Instingtive Behaviour) करते हैं। उनको भूख लगी, तो खाना तलाशेंगे; नींद लगी ,तो सो जाएँगे; भय लगा, तो आक्रमण के लिए उद्यत हो जाएँगे। एक प्रसिद्ध श्लोक है –

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च
सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम्।

ये सहज प्रवृत्तियाँ पशु में भी होती हैं और मनुष्य में भी। मगर पशु की प्रवृत्ति इन क्रियाओं के ही इर्द-गिर्द चलती है, इन्हीं को आधार बनाकर चलती है, पर मनुष्य की प्रवृत्ति में आत्म-संवेदन होता है। अत: वह अपनी चेष्टाओं, धारणाओं और अपने इच्छित पदार्थों के बारे में निर्णय कर सकता है। इसलिए भारतीय चिन्तकों ने मनुष्य के द्वारा जो कुछ चाहा जाता है, उसे पुरुषार्थ का नाम दिया है।

तीसरी जानने योग्य बात यह है कि जब हम किसी चीज का मूल्यांकन करते हैं, तो यह स्पष्ट है कि हम किसी आधार पर करते हैं। जब हम कहते हैं कि यह ठीक या उचित नहीं है, तो इसका अर्थ है – ठीक कुछ और है, जिसकी तुलना में हम इस क्रिया, इस विचार, इस चेष्टा को देख रहे हैं। हमें इसका अन्दाजा भले ही बहुत स्पष्ट न हो, पर है अवश्य।

निर्दोष उत्कृष्टता के इस पैमाने को विद्वान् लोग Absolute perfection (चरम पूर्णता) कहते हैं। इसे हम अपनी किसी सर्वोच्च स्थिति या उत्कर्ष के रूप में जानते हैं। उत्कर्ष या उत्कृष्टता की स्थिति या आदर्श हर व्यक्ति के मन में कहीं-न-कहीं स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से मौजूद होता है और वही उसका चरम लक्ष्य होता है, जिसे हम मोक्ष कहते हैं। इस सर्वथा निर्दोष – पूर्ण स्थिति की कल्पना हर व्यक्ति के हृदय में होती है। और इसी आधार पर व्यक्ति अपने सभी विचारों का, अपनी सभी चेष्टाओं का विश्लेषण करता है और अपने जीवन की दिशा निर्धारित करता है।

अब तक तीन बातें कही गयीं। पहली कि पुरुषार्थ एक लक्ष्य है, एक साध्य है। दूसरी यह कि मनुष्य चूँकि स्व-संवेदन से युक्त है, स्वयं का अनुभव कर सकता है, अत: उसे पहले से ही इन साध्यों का थोड़ा अन्दाजा होता है। और तीसरी बात यह है कि मनुष्य के अन्तर्मन में एक ऐसी स्थिति की परिकल्पना होती है, जो सबसे बढ़िया, सबसे ऊँची, सबसे निर्दोष और सबसे पूर्ण है। और वह जो आदर्श है, उसी के आधार पर पुरुषार्थों का निर्धारण होता है।

मनुष्य के द्वारा चाहे गए पदार्थ असंख्य होते हैं। और इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए असंख्य चेष्टाएँ होती है। इच्छाएँ इतनी होती हैं कि आप उनकी गिनती नहीं कर सकते। आकाश में जितने तारे हैं, उतनी ही इच्छाएँ हैं। इसलिए भारतीय मनीषियों ने इनका विभाजन और वर्गीकरण किया। जिन्होंने थोड़ा-बहुत भारतीय दर्शन या इतिहास पढ़ा होगा, वे जानते हैं कि जितना बढ़िया वर्गीकरण इस देश के मनीषियों ने किया है, उतना अन्यत्र के मनिषियों द्वारा नहीं हुआ।

ईसा के ५-६ सौ वर्ष पूर्व पाणिनी ने ध्वनियों का जो वर्गीकरण किया, आज तक वैसा दूसरा कोई नहीं कर सका। पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों का वर्गीकरण किया और मनुष्य के चित्त में जितनी वृत्तियाँ हो सकती हैं, उनमें से कोई भी ऐसी वृत्ति नहीं है, जो उन पाँच वर्गों के अन्तर्गत नहीं आ जाती। ठीक वैसे ही, जब जीवन में चाहे गए पदार्थों का वर्गीकरण किया गया, तो उनको चार भागों में बाँटा गया – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। और हम लोगों द्वारा इच्छित ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, ऐसा कोई भी लक्ष्य नहीं है, जो

इन चारों के अन्तर्गत न आ जाता हो। आप चाहे जितना भी विचार करके देखें, पाँचवा कोई पुरुषार्थ बन ही नहीं सकता।

इनमें पहला पुरुषार्थ है धर्म, दूसरा अर्थ, तीसरा काम और चौथा पुरुषार्थ है मोक्ष। ये सब परस्पर जुड़े हुए हैं। इनमें कुछ पुरुषार्थ तो साधन रूप हैं और कुछ साध्य रूप। अर्थात् कुछ पुरुषार्थ ऐसे हैं, जिनको प्राप्त करना है और कुछ पुरुषार्थ ऐसे हैं, जिनके द्वारा उनको प्राप्त करना है। तो इन चार पुरुषार्थों के भी दो भाग हो जाते हैं – साधन-रूप (Instrumental Values) और साध्य-रूप (In-trinsic Values)। लेकिन धर्म एक बड़ा ही विचित्र पुरुषार्थ है। यद्यपि वह साधन-भूत (Instrumental value) है, तथापि उसका क्षेत्र इतना व्यापक है कि वह धीरे-धीरे साध्य-भूत हो गया है। अब हमें इस पर भी थोड़ा विचार करना होगा कि किस आधार पर इन पुरुषार्थों का वर्गीकरण किया गया है।

मनुष्य का व्यक्तित्व एक बड़ी जटिल संरचना है। तुलसी दास जी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है – **जड़ चेतनहि गाँठ परि जाई; जदपि मृषा छूटत कठिनाई।** मानव के व्यक्तित्व में जड़ और चेतन की कुछ ऐसी गाँठे पड़ गई हैं, जो अपने आपमें बिलकुल झूठी हैं, लेकिन इन्हें खोलना बड़ा मुश्किल है। अपने व्यक्तित्व का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि उसमें अनेक चीजें होती हैं। एक तो हमारा शरीर है। उसके आगे इन्द्रियाँ हैं, मन है, बुद्धि है, अहंकार है; फिर प्राण भी हैं, जो ऊर्जा-स्वरूप हैं, जो जीवन को गति देते हैं और इन सबको संचालित करनेवाला एक चेतन तत्त्व भी है।

उपनिषदों में पंच-कोषों का सिद्धान्त है। उसमें मनुष्य के व्यक्तित्व को पाँच भागों में बाँटा गया है – पहला अन्नमय कोष है, दूसरा प्राणमय, तीसरा मनोमय, चौथा विज्ञानमय और पाँचवाँ आनन्दमय कोष है। ये मानव-व्यक्तित्व के भिन्न -भिन्न हिस्से हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व में दो चीजें हैं – एक तो है चैतन्य-तत्त्व और दूसरा है जड़-तत्त्व। जड़-तत्त्व वह है, जिसे आधुनिक भौतिकी की शब्दावली में Energy (ऊर्जा) कहते हैं। ये जड़ और चैतन्य तत्त्व बिल्कुल अलग-अलग हैं, बिलकुल विपरीत हैं। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में लिखा कि **तम:प्रकाशवत् विरुद्ध-स्वभावयो:** – ये अन्धकार और प्रकाश के समान विपरीत हैं, तथापि इनके विषय में जबरदस्त भ्रम है। ये दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए दिखते हैं, पर एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। अब जब हम अपने इस व्यक्तित्व को देखते हैं, तो हमारी व्यावहारिक चेतना भी कई स्तरों में बँट जाती है। एक शारीरिक चेतना है, दूसरी भावानात्मक चेतना है, तीसरी बौद्धिक चेतना है; एक चौथा शुद्ध चेतना का आयाम भी है। हमारी इच्छाएँ भी इसी तरह बँटी हुई हैं। कुछ शरीर की इच्छाएँ हैं, कुछ इन्द्रियों की इच्छाएँ हैं, कुछ मन की इच्छाएँ हैं और कुछ बुद्धि की इच्छाएँ हैं। इतने प्रकार की इच्छाएँ हैं।

अर्थ और काम – ये दो पुरुषार्थ आपके भौतिक व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। मोक्ष, आपके चतुर्थ आयाम अर्थात् शुद्ध चैतन्य से सम्बद्ध है। धर्म दोनों से ही सम्बद्ध है। यह धर्म का वैशिष्ट्य है। इसलिए भारतवर्ष में धर्म पर इतना सब कहा-सुना जाता है। धर्म एक ऐसा विषय है, जिस पर कोई प्रकाण्ड विद्वान् यदि पूरे साल भर तक भाषण देता रहे, तो भी वह विषय पूरा नहीं होगा। उसके इतने आयाम हैं।

अत: मनुष्य के व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं – भौतिक और आत्मिक। हर व्यक्ति अपने इन दोनों पक्षों से जुड़ता रहता है। और मैं जिस आदर्श की, व्यक्ति की अच्छाई-ऊँचाई-गहराई-शुद्धता और श्रेष्ठता को मापने के जिस पैमाने की बात कह रही थी, वह यही चतुर्थ अर्थात् आत्मिक आयाम है। आप इसी के प्रकाश में अपने सारे जीवन का अवलोकन करते हैं। चाहे आप होश में करें या बगैर होश के करें। चाहे जाने में करें या अनजाने में। यह सबके पास होता है।

पूरे भारतीय संस्कृति का एक ही आदर्श है। क्षेत्र चाहे कोई भी हो, पर आदर्श एक वही है – जानना। आप जिसे मोक्ष कहते है, मुक्ति कहते है, साक्षात्कार कहते हैं, वह है – अपने आपको जान लेना। अपने आपको अपनी पूर्णता में, मूल रूप में जान लेना। यही हमारा चतुर्थ आयाम ही चौथा पुरुषार्थ है – मोक्ष। सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का एक ही लक्ष्य है और वह है आत्म-साक्षात्कार।

और मनुष्य का जो भौतिक पक्ष है, उसकी जो पाशविक वृत्तियाँ हैं, ये भी व्यर्थ नहीं हैं। इनका अपना प्रयोजन है और अपने आप में ये सारी भौतिक वृत्तियाँ अत्यन्त निर्दोष हैं। जब अविवेकपूर्वक इन वृत्तियों की तृप्ति की जाती है, तभी इसमें खामी पैदा होती है। समस्त शारीरिक एवं मानसिक वृत्तियों की विवेकपूर्वक परितृप्ति को कभी किसी महात्मा, सन्त या ऋषि ने निकृष्ट नहीं कहा, क्योंकि ये निकृष्ट नहीं है। उनमें अपने आप में कोई बुराई भी नहीं है। इसलिए हमारे यहाँ धर्म को पहला पुरुषार्थ कहा गया। इसकी जो हैसियत और ऊँचाई है, उसके हिसाब से इसे तीसरा पुरुषार्थ कहा जाना चाहिए था। पर यह पहला है। धर्मपूर्वक अर्थ का साधन और धर्मपूर्वक काम का साधन ही हितकर है, इसीलिए धर्म को पहले लगाया जाता है। धन धर्मपूर्वक हो और काम भी धर्मपूर्वक। और जब धर्म हट जाता है, केवल अर्थ और केवल काम रह जाता है, तो उस समाज की वही दशा होती है जो आज हमारी है। उसे आप सब जानते हैं कि क्या है? कैसी है? ऐसा इसलिए है कि धर्मवाला अंकुश अब नहीं है। अब काम भी स्वतंत्र है और अर्थ भी स्वतंत्र है। ये दोनों अपने आप में पाशविक वृत्तियाँ हैं, भौतिक वृत्तियाँ हैं। ये मनुष्य को चतुर्थ आयाम – मोक्ष की ओर नहीं ले जातीं।

जितनी भी इच्छाएँ हो सकती हैं, उनमें से अधिकांश को हमारे ऋषियों ने काम के अन्तर्गत रखा। काम अर्थात् चेष्टा। काम ही जीवन की शक्ति है। यह रजोगुण है, जो व्यक्ति को संचालित करता है, प्रवृत्त करता है। इस रजोगुण के बिना गति भी नहीं आती। काम रजोगुण है। क्षुद्र-से-क्षुद्र और बड़ी-से-बड़ी – सारी इच्छाएँ काम के अन्तर्गत आती हैं।

इस काम की पूर्ति के जो तरीके हैं, साधन हैं, वे अर्थ के अन्तर्गत आते हैं। अर्थ का तात्पर्य केवल रुपया-पैसा नहीं होता। आपके द्वारा चाहे गए पदार्थ की प्राप्ति का हर साधन अर्थ के अन्तर्गत आता है। जो कुछ भी साधन रूप है, वह अर्थ है। इस प्रकार ये अर्थ और काम हुए।

पर हमारा एकमात्र लक्ष्य है – आत्मज्ञान, अपनी पहचान – आत्मसाक्षात्कार। जो चीज हमें उस ओर ले जाती है, वह उचित है और जो चीज हमें उससे हटा देती है वह गलत।

यह जो हमारे यहाँ उचित की धारणा विकसित होती है। क्या वह सही है? औचित्य की धारणा यहीं से विकसित होती है कि जो भी चेष्टा, जो भी इच्छा इस चतुर्थ पुरुषार्थ की ओर ले जाने में सहायक है, वह तो सही है और जो भी इच्छा, कर्म या चेष्टा हमें उससे विरत करके, निचले स्तर की ओर, शरीर की ओर वापस ले जाने के लिए तत्पर है, वह गलत है। तो औचित्य की धारणा, जो धर्म का प्रमुख क्षेत्र है, वह इसी चतुर्थ पुरुषार्थ के सन्दर्भ में तय होता है।

अब आप थोड़ा-सा धर्म-तत्त्व को देखें। भारतीय संस्कृति में धर्म की भूमिका बड़ी अद्भुत है। उसकी भूमिका माँ की है। उसकी भूमिका पिता की है। उसकी भूमिका गुरु की है। उसकी भूमिका मित्र की है। उसकी भूमिका कोतवाल की है। उसकी भूमिका न्यायाधिकारी की है। हर तरह से धर्म आपको देखता है। धर्म देखता है कि आपकी प्रत्येक इच्छा, आपकी प्रत्येक चेष्टा, चाहे वह किसी भी प्रकार की हो, वह आपको सर्वश्रेष्ठ गन्तव्य की ओर ले जा रही है या नहीं और इसलिए धर्म कई दृष्टियों से विचार करता है। धर्म के तीन क्षेत्र है। पहला है – आचार या नैतिक सिद्धान्त। दूसरा है – प्रायश्चित्त अर्थात् यदि कोई भूल हो गई हो, तो उसे कैसे सुधार लिया जाय। यह कर्मकाण्ड का क्षेत्र है। और तीसरा है – व्यवहार अर्थात् व्यक्ति समाज में कैसे रहे, यह भी धर्म तय करता है। और धर्म यह भी तय करता है कि व्यक्ति अपने साथ कैसे रहे अर्थात् व्यक्ति कैसे अपना सांसारिक जीवन बिताते हुए, सहज सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति करते हुए भी अपने सर्वोच्च आदर्श की ओर बढ़ता चले ! अत: धर्म जो वस्तुत: साधनगत मूल्य है, क्रमश: इतना महत्त्वपूर्ण हो गया है कि उसने साध्यगत मूल्य का रूप ले लिया है।

धर्म का बड़ा लम्बा इतिहास है। वेदों में ऋत से इसकी धारणा शुरू होती है। फिर तीन ऋणों तक आती हैं। ब्राह्मण और उपनिषद् काल में धर्म का अर्थ हुआ – **धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयेत् प्रजाः** – वे सिद्धान्त, जो मनुष्य को धारण करते हैं, जो उसके सामाजिक और नैतिक व्यवस्था के आधार होते हैं और जीवन जीने की वह कला, जो मनुष्य को उसकी सर्वोच्च सम्भावनाओं को रूपायित करने के लिए तैयार करती है। यह सब कुछ धर्म के अन्तर्गत आता है। प्राचीन वैदिक काल में धर्म का प्रयोजन था – इस संसार में सुख और स्वर्गादि की प्राप्ति। लेकिन धीरे-धीरे विकसित होते हुए धर्म का प्रयोजन हो गया – चित्त-शोधन और चित्त-शुद्धि से मोक्ष की प्राप्ति। पिछले कुछ हजार सालों के भीतर यह एक बहुत बड़ा अन्तर आया है।

आपका चौथा और अन्तिम पुरुषार्थ है मोक्ष। यह हमारी चेतना का शुद्ध रूप है। मोक्ष वहाँ है जहाँ हमको पहुँचना है। यह वह आदर्श है जो हम सबके भीतर है और जो हमारी सारी चेष्टाओं के उचित और अनुचित को तय करता है। इसी के प्रकाश में सब कुछ तय होता है। लेकिन हमें उस ओर जाना है, तो हमें इस लक्ष्य का सही-सही स्वरूप ज्ञात होना चाहिए। और इसी लक्ष्य से हमारी एक बड़ी धारणा विकसित होती है – सत्य की धारणा। धर्म से विकसित होती है – उचित की धारणा। मोक्ष से विकसित होती है – सत्य की धारणा। इसलिए भारतीय दर्शन को अध्यात्म-शास्त्र कहते हैं। सत्य की यह धारणा ही परम पुरुषार्थ है।

अन्तिम बात जो मैं रेखांकित करना चाहती हूँ वह यह है कि ऐसी बात नहीं कि इस आयाम पर पहुँचकर बाकी सब आयाम छूट जाते हों। बल्कि बाकी सारे आयाम रूपान्तरित हो जाते हैं। जैसे कोई पारस से लोहे को छू दे, तो वह पूरे-का-पूरा सोना हो जाता है, वैसे ही आपके अर्थ तथा काम; आपकी शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक चेतना – ये सभी रूपान्तरित हो जाते हैं। इस चतुर्थ आयाम की प्राप्ति पर वह स्थिति आती है, जिसे गीता के द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ अवस्था कहा गया है। ऐसा व्यक्ति अपने स्पर्श से सारे समाज का कल्याण करता है, सारे समाज का संस्कार करता है और सारे समाज को एक दिशा देता है। इसीलिए स्वामीजी ने एक उद्देश्य वाक्य रखा – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च** – अपना मोक्ष और जगत् का हित।

यह चतुर्थ पुरुषार्थ बाकी तीन पुरुषार्थों को काटकर अलग नहीं कर देता, बल्कि उन तीनों के माध्यम से प्राप्त होता है और उन तीनों को अपने में समेट कर व्यक्ति को एक ऐसे व्यक्तित्व का स्वामी बना देता है, जो अपने शुद्ध चैतन्य की अवस्था में रहते हुए भी, संसार की छोटी-से-छोटी क्रिया को अपने स्पर्श से रूपान्तरित कर सकता है, विश्व का कल्याण कर सकता है।

❑❑❑

‘विवेकानन्द’ नाम का इतिहास

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

वाराणसी के वीरेश्वर शिव की मनौती से जन्म लेने के कारण बचपन में स्वामीजी को ‘वीरेश्वर’ या ‘बिले’ के नाम से पुकारा जाता था। माँ उन्हें ‘बिलू’ भी कहकर पुकारती थीं। वैसे उनका वास्तविक नाम था ‘नरेन्द्रनाथ’ और छोटे भाइयों का भी उसी तर्ज पर ‘महेन्द्रनाथ’ तथा ‘भूपेन्द्रनाथ’ था। श्रीरामकृष्ण से परिचय होने पर वे उन्हें स्नेहपूर्वक ‘नरेन’ या अपनी तोतली बोली में ‘लोरेन’ कहकर सम्बोधित करते थे। बाद में अपनी परिव्रज्या के दौरान उन्होंने पहले ‘विविदिषानन्द’ नाम धारण किया और बाद में ‘विवेकानन्द’ तथा ‘सच्चिदानन्द’।

पर इतिहास का यह एक बड़ा विरोधाभास है कि स्वामीजी जिस ‘विवेकानन्द’ नाम से विश्वविख्यात हुए, वह नाम उन्होंने सर्वप्रथम कब धारण किया, इस विषय में अब तक निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सका है। स्वामीजी के गुरुभ्रातागण और आलासिंगा पेरूमल आदि अति अन्तरंग शिष्यगण भी उनके नामों के इतिहास से अपरिचित थे। परवर्ती काल में हम देखते हैं कि आलासिंगा ने २३ जून, १८९६ को बॉस्टन (अमेरिका) ‘संडे न्यूज ट्रिब्यून’ नामक समाचारपत्र के सम्पादक के नाम एक पत्र में लिखा था, “विवेकानन्द नाम उनके महान् गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंस द्वारा दिया गया था।”[१] स्वामीजी के नाम-विषयक इन भ्रान्तियों का कारण यह है कि उनके जीवन के प्रारम्भ से १८९३ ई. में उनकी प्रसिद्धि के समय तक के कागजात बहुत कम ही प्राप्त होते हैं। साथ ही राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र तथा दक्षिणी भारत में अपनी परिव्रज्या के दौरान उन्होंने अपने गुरुभाइयों तथा परिचितों के साथ पत्र-व्यवहार करीब-करीब बन्द कर रखा था। अत: उस काल के जो अल्पाधिक साक्ष्य उपलब्ध हो सके हैं, हमें उन्हीं का विश्लेषण करके, बाद में सुनी हुई बातों से ही निष्कर्ष निकालने होंगे।

स्वामीजी के गुरुभाइयों तथा शिष्यों द्वारा संकलित तथा १९१३ ई. में प्रकाशित उनकी प्राचीनतम जीवनी में लिखा हुआ है – “पश्चिम के लिये प्रस्थान करने के कुछ काल पूर्व से ही स्वामीजी ‘विवेकानन्द’ नाम से परिचित थे। इसके पूर्व जब-जब उन्हें पहचान तथा प्रसिद्धि से बचने की आवश्यकता महसूस हुई, तब-तब उन्होंने बारम्बार अपने नाम में परिवर्तन किया था। कभी वे ‘विविदिषानन्द’ नाम से परिचित होते, तो कभी ‘सच्चिदानन्द’ नाम से और कभी किसी अन्य नाम से। सुनने में आता है कि अन्त में उन्होंने खेतड़ी-राजा के हार्दिक अनुरोध पर ‘विवेकानन्द’ नाम धारण किया था।”[२]

स्वामीजी के दूसरे महत्त्वपूर्ण जीवनी-लेखक, साहित्य में नोबल पुरस्कार से सम्मानित फ्रांसीसी चिन्तक मोशियो रोमाँ रोलाँ ने इस विषय में सही जानकारी पाने हेतु रामकृष्ण संघ के आंग्ल मासिक ‘प्रबुद्ध-भारत’ के सम्पादक स्वामी अशोकानन्द जी के साथ पत्र-व्यवहार किया था। अशोकानन्द जी ने इस विषय में खोजबीन की।

उनकी जिज्ञासा के उत्तर में स्वामी शुद्धानन्द जी ने अपने ४ जून, १९२८ के पत्र में उन्हें लिखा – “भ्रमण के दिनों में स्वामीजी विविदिषानन्द, सच्चिदानन्द आदि नामों से अपना परिचय देते थे। सुना है कि खेतड़ी के राजा ने स्वामीजी को विवेकानन्द नाम दिया और उन्होंने जहाज में सवार होने के समय से वह नाम ग्रहण किया। अमेरिका पहुँचने के पूर्व स्वामीजी द्वारा लिखित जो पत्र हमें प्राप्त हुए हैं, उनमें अधिकांश में उनके नरेन्द्रनाथ और कुछ में सच्चिदानन्द नाम से हस्ताक्षर मिले हैं। विशेषकर अमेरिका जाने के कुछ काल पूर्व जब वे थियॉसाफिकल सोसायटी के अध्यक्ष कर्नल आल्काट से अमेरिका के लिये परिचय लेने गये थे, उस समय सच्चिदानन्द नाम से परिचित थे। आल्काट ने धर्मपाल को एक पत्र लिखा था, उसमें मैंने स्वामीजी के सन्दर्भ में इस प्रकार लिखा हुआ देखा है – ‘The Sannyasi Satchidananda about whom I warned you ...’ etc.”

स्वामी शिवानन्द जी ने अपने २५ जून, १९२८ के पत्र में शुद्धानन्द जी को लिखा था – “अशोकानन्द ने मायावती से लिखा है – ‘हमने ऐसा सुना है कि मेरठ में आप लोगों

१. Swami Vivekananda in the West : New Discoveries, by Marie Louise Burke, Vol. 4, First Edition, 1986, P. 544

२. Life of Swami Vivekananda, by his Eastern and Western Disciples, Mayavati, Vol 2, First Edition 1913, P. 258

ने श्रीठाकुर के चित्रपट के सम्मुख विरजा-होम आदि करके औपचारिक संन्यास ग्रहण किया था। उस समय क्या आप लोगों का वर्तमान नाम हुआ था? स्वामीजी ने भी क्या उसी समय विवेकानन्द नाम लिया था? फिर यह भी सुनने में आता है कि खेतड़ी के महाराजा ने स्वामीजी से यह नाम चिरस्थायी करने का अनुरोध किया था।' अशोकानन्द ये सारी सूचनायें रोमाँ रोलाँ को भेजना चाहते हैं। मुझे जहाँ तक स्मरण आता है होम वराहनगर मठ में हुआ था। होम के अन्त में हम लोगों में से किसी-किसी का नामकरण होने पर भी, ऐसा नहीं लगता कि स्वामीजी का नाम हुआ था। वे विविध नामों के साथ परिभ्रमण करते थे और खेतड़ी के राजा ने ही उन्हें विवेकानन्द नाम लेने को कहा। तुमने इस विषय में जो सुना है, उसे लिखकर अशोकानन्द को भेज देना।" इसके बाद वे स्वयं २५ जून १९२८ को स्वामी अशोकानन्द जी के नाम एक पत्र में लिखते हैं – "सूचना मिली कि मुझे जो कुछ स्मरण है, वह शुद्धानन्द ने तुम्हें मधुपुर से लिखकर बता दिया है। गंगाधर महाराज (स्वामी अखण्डानन्द) का पत्र भी पढ़ा। उन्होंने भी वही लिखा है। वराहनगर मठ में ही हम लोगों का संन्यास और विरजा-होम हुआ। स्वामीजी के अतिरिक्त सबका नाम भी उसी समय हुआ। स्वामीजी विविदिषानन्द नाम से परिचय दिया करते थे। खेतड़ी-महाराजा की सलाह के अनुसार उन्होंने विवेकानन्द नाम ही पसन्द किया।"[३]

अशोकानन्द जी ने स्वामीजी के नाम के विषय में शोध करके रोमाँ रोलाँ को अपने निष्कर्ष भेज दिये। उन्हीं के आधार पर रोमाँ रोलाँ ने स्वामीजी की अपनी जीवनी में लिखा – "मैं पाठकों को याद दिलाना चाहूँगा कि उनका वास्तविक नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। १८९३ ई. में अमेरिका के लिये प्रस्थान करने के पूर्व तक उन्होंने विवेकानन्द नाम धारण नहीं किया था। इस विषय में मैंने रामकृष्ण मिशन से सम्पर्क किया था। स्वामी अशोकानन्द ने इस विषय पर गहन शोध करने के बाद उसके परिणाम मुझे भेजने की कृपा की है। विवेकानन्द के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संन्यासी शिष्यों में से एक, और रामकृष्ण मिशन के वर्तमान महासचिव स्वामी शुद्धानन्द के निश्चयात्मक साक्ष्य के अनुसार रामकृष्ण सर्वदा ही अपने शिष्य का नरेन्द्र या संक्षेप में नरेन नाम का उपयोग करते थे। यद्यपि उन्होंने अपने कुछ शिष्यों को संन्यासी बनाया था, परन्तु कभी औपचारिक रूप से संन्यास का अनुष्ठान नहीं किया था और न ही उन्हें संन्यास-नाम ही दिये थे। वैसे उन्होंने नरेन्द्र को 'कमलाक्ष' का उपनाम दिया था, परन्तु नरेन ने उसका तत्काल त्याग कर दिया। भारत में अपनी प्रथम यात्राओं के दौरान उन्होंने अपनी पहचान छिपाने के लिये विभिन्न नाम धारण किये। कभी वे स्वामी विविदिषानन्द कहलाते, तो कभी सच्चिदानन्द। फिर अमेरिका के लिये प्रस्थान करने के पूर्व जब वे थियॉसॉफिकल सोसायटी के अध्यक्ष कर्नल आल्काट से परिचय पत्र माँगने गये, उस समय कर्नल आल्काट उन्हें सच्चिदानन्द नाम से ही जानते थे; और उन्होंने अपने अमेरिकी मित्रों को उनकी सहायता के लिये लिखने के स्थान पर, उनसे सावधान रहने को लिख दिया। जब वे अमेरिका जाने की तैयारी कर रहे थे, उसी समय उनके महान् मित्र खेतड़ी के महाराजा ने उन्हें विवेकानन्द नाम सुझाया। स्वामीजी में निहित 'विवेक-शक्ति' से प्रेरित होकर ही यह नाम सुझाया गया था। नरेन ने इसे स्वीकार कर लिया, शायद तात्कालिक रूप से, परन्तु यदि वे चाहते तो भी इसे कभी बदल नहीं सकते थे, क्योंकि कुछ महीनों के भीतर ही यह नाम भारत और अमेरिका में छा चुका था।"[४]

श्रीरामकृष्ण-अनुरागी संन्यासियों का नाम-ग्रहण

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के उपरान्त जब वे दिसम्बर १८८६ ई. में उनके अनुरागी शिष्यगण जब आँटपुर गये, तो वहाँ धूनी के सामने उन लोगों ने त्याग-व्रत के प्रतीक-रूप में संन्यास ग्रहण करने का संकल्प लिया था। बाद में पता चला कि वह महात्यागी ईशदूत ईसामसीह का जन्मदिन था। १८८७ ई. की जनवरी के तीसरे सप्ताह में किसी दिन सात या आठ गुरुभाइयों ने विरजा-होम का अनुष्ठान करके संन्यास-व्रत ग्रहण करके श्रीरामकृष्ण से प्राप्त गैरिक वस्त्रों को धारण किया। उस दिन स्वामीजी ने उन्हें स्वामी ब्रह्मानन्द, प्रेमानन्द, रामकृष्णानन्द, सारदानन्द, निरंजनानन्द, अभेदानन्द तथा त्रिगुणातीतानन्द का नाम दिया। कुछ दिनों बाद दो अन्य गुरुभाइयों ने भी उसी प्रक्रिया से स्वामी शिवानन्द तथा अद्वैतानन्द नाम धारण किये। लाटू तथा योगीन वृन्दावन गये थे और वहाँ से लौटने के बाद वे भी स्वामी अद्भुतानन्द तथा योगानन्द हुए। हरिनाथ को भी उसी वर्ष स्वामी तुरीयानन्द नाम मिला और गंगाधर ने तिब्बत से लौटने के बाद जुलाई १८९० में स्वामी अखण्डानन्द नाम धारण किया। स्वामी सुबोधानन्द के संन्यास-ग्रहण के बारे में कुछ ज्ञात नहीं और हरिप्रसन्न १८९८ ई. में संन्यास लेकर स्वामी विज्ञानानन्द हुए थे। इस प्रकार स्वामीजी ने अपने १५ गुरुभाइयों का नामकरण किया था, परन्तु १८८७ ई. में उन्होंने स्वयं कोई नाम लिया था या नहीं? और यदि लिया था, तो क्या नाम लिया था? इस विषय में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं जानते।

'विविदिषानन्द' नाम का इतिहास

स्वामी अभेदानन्द की बँगला 'आत्मकथा' के अनुसार जनवरी १८८७ ई. उस ऐतिहासिक दिन के बाद किसी दिन

३. इन पत्रों की प्रतिलिपि गोलपार्क के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर के अभिलेखागार में संरक्षित है।

४. रोमाँ रोलाँ कृत स्वामीजी की अंग्रेजी जीवनी (सं. २००४) पृ. ५

स्वामीजी ने स्वयं '**विविदिषानन्द**' नाम धारण किया था। स्वामी शिवानन्द जी भी पूर्वोद्धृत अपने २५ जून १९२८ के पत्र में बताते हैं कि वराहनगर मठ में निवास के दिनों में वे 'विविदिषानन्द' नाम से परिचय दिया करते थे। अत: यह मान लेना उचित ही लगता है कि स्वामीजी ने अपनी प्रारम्भिक यात्राओं के दौरान यथावश्यक 'विविदिषानन्द' नाम का उपयोग किया था। वाराणसी के प्रमदादास मित्र को लिखे उनके पत्रों से और गाजीपुर में पवहारी बाबा के साथ उनके मुलाकात के प्रयास से उन दिनों उनके मन:स्थिति से 'विविदिषा' (अर्थात् ज्ञान-पिपासा) का भाव ही व्यक्त होता है।

एक अन्य तथ्य से भी यह सिद्ध होता है कि स्वामीजी ने उस ऐतिहासिक विरजा-होम के दिन अन्य गुरुभाइयों के साथ नहीं, बल्कि बाद में कभी अप्रकट रूप से इसे ग्रहण किया था। १८९० ई. में तिब्बत से लौटने के बाद स्वामी अखण्डानन्द द्वारा गुरुभाइयों के नामों के विषय में जिज्ञासा प्रकट किये जाने पर वराहनगर मठ से स्वामी शिवानन्द जी ने अपने ४ जनवरी के पत्र में उन्हें सूचित किया था – "तुमने हमारा संन्यास नाम जानने की इच्छा व्यक्ति की है। वह नीचे दिया जा रहा है; मगर पत्र के पते पर यहाँ वह नाम मत लिखना।" उक्त पत्र में तब तक नाम ग्रहण किये गये संन्यासियों का नाम इस क्रम से दिया गया है – (१) निरंजन – निरंजनानन्द स्वामी, (२) योगेन – योगानन्द स्वामी, (३) बाबूराम – प्रेमानन्द स्वामी, (४) लाटू – अद्भुतानन्द स्वामी, (५) शशी – रामकृष्णानन्द स्वामी, (६) हरिबाबू – तुरीयानन्द स्वामी, (७) तुलसी – निर्मलानन्द स्वामी, (८) दक्ष – ज्ञानानन्द स्वामी, (९) काली – अभेदानन्द स्वामी, (१०) गोपालदादा – अद्वैतानन्द स्वामी।[५]

पत्र के नीचे शिवानन्द नाम से हस्ताक्षर है। पर आश्चर्य की बात यह है कि इस सूची में स्वामी ब्रह्मानन्द, सारदानन्द तथा त्रिगुणातीतानन्द आदि के नाम नहीं हैं। स्वामीजी ने सम्भवत: तब तक कोई नाम लिया नहीं था, या लिया भी हो तो किसी को बताया नहीं था। उन दिनों उनके पैतृक भवन को लेकर न्यायालय में मुकदमा चल रहा था, इसलिये भी शायद उस समय तक उन्होंने अपने संन्यास की बात प्रकट न की हो। गुरुभाई गण आपस में एक-दूसरे को नरेन भाई, राखाल भाई, हरि भाई आदि के रूप में सम्बोधित करते थे। अत: नाम की कोई व्यावहारिक आवश्यकता भी नहीं थी।[६]

५. बँगला 'महापुरुषजीर पत्रावली, पृ. ५-६; और हिन्दी 'युगनायक विवेकानन्द', भाग १, सं. १९९४, पृ. १९३

६. स्वामी एकात्मानन्द जी का मत है कि स्वामीजी ने विरजा-होम वाले दिन ही 'विवेकानन्द' नाम धारण कर लिया था। See 'When did Swamiji Really Take the Name Vivekananda?', Swami Ekatmananda, Prbudhha Bharata, July 1985, p. 297

'सच्चिदानन्द' नाम का प्रयोग

स्वामीजी द्वारा प्रयुक्त नामों के सर्वाधिक प्रामाणिक साक्ष्य हैं, उन दिनों लिखे गये उनके पत्र। स्वामीजी की 'पत्रावली' के बँगला संस्करण में हम देखते हैं कि १८८८ से जून १८९० ई. तक के उपलब्ध ५२ पत्रों में उन्होंने **'नरेन्द्र'** या **'नरेन्द्रनाथ'** के रूप में हस्ताक्षर किये हैं। इन दिनों गुरुभाइयों के आपसी पत्र-व्यवहार में भी उनका उल्लेख **'नरेन्द्र बाबाजी'** के रूप में ही हुआ है। जुलाई ९० से सितम्बर ९२ के दौरान (स्वामी सारदानन्द, अलवर के गोविन्द सहाय, जूनागढ़ के हरिदास विहारीदास देसाई तथा खेतड़ी के पं. शंकरलाल के नाम लिखे गये, पत्र संख्या ५३ से ६२ तक के १० पत्रों में 'विवेकानन्द' या केवल 'वि.' के रूप में दस्तखत किया गया है। इसके बाद नवम्बर ९२ (भूल से ९३ लिखा है) को मड़गाँव (गोवा) से लिखे पत्र में हमें पहली बार उनका 'सच्चिदानन्द' नाम देखने को मिलता है। इस तथा इसके बाद से अमेरिका जाने के पूर्व के ९ (तथा हाल ही में खेतड़ी से प्राप्त २) पत्रों में से ४ में 'विवेकानन्द' तथा ५ में 'सच्चिदानन्द' नाम मिलता है। इनमें से उन्होंने ३ पत्र जूनागढ़ के दीवान साहब को, २ पत्र बेलगाम की इन्दुमती मित्र को, ३ पत्र मद्रास के भक्तों को और २ पत्र खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह को लिखे।

इन पत्रों का निरीक्षण करने से एक मजे की बात देखने को मिलती है और वह यह कि जब वे बेलगाम तथा मद्रास के भक्तों को पत्र लिखते हैं तो 'सच्चिदानन्द' के रूप में हस्ताक्षर करते हैं और जब खेतड़ी तथा जूनागढ़ के मित्रों को लिखते हैं, तो 'विवेकानन्द' के रूप में। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्वामीजी जिनसे अपने जिस नाम से परिचित थे, उन्हें वे उसी नाम के हस्ताक्षर से पत्र लिखते थे। खेतड़ी के राजा को (१५ फरवरी १८९३ ई. को मद्रास से) लिखा गया एक पत्र इसका अपवाद है। खेतड़ी से (१९९९ ई.) मिले स्वामीजी से सम्बन्धित कुछ पत्रों से ज्ञात होता है कि भावनगर (गुजरात) के वज्रेशंकर गौरीशंकर तथा मुम्बई के बैरिस्टर रामदास छबीलदास उन्हें 'सच्चिदानन्द' के नाम से ही जानते थे।[७]

१८९० ई. की जुलाई में जब स्वामीजी अपने गुरुभाई अखण्डानन्द के साथ हिमालय-यात्रा पर चले, तो 'विविदिषानन्द' के रूप में ही चले थे और एक सम्भावना ऐसी भी है कि १८९१ की फरवरी में दिल्ली से गुरुभाइयों से पिण्ड छुड़ा

७. खेतड़ी में तहसील दफ्तर में १९९९ ई. के फरवरी-मार्च में आकस्मिक रूप से एक फाइल मिली थी, जिसमें स्वामी विवेकानन्द के दो पत्र थे तथा और भी स्वामीजी के परिचितों के कुछ और भी पत्र थे। लेखक के अनुरोध पर श्री झाबरमल शर्मा के पौत्र दिल्ली-निवासी श्री श्यामसुन्दर शर्मा जयपुर गये तथा उनकी प्रतिलिपि ले आये।

कर एकाकी राजस्थान की ओर प्रस्थान किया, तो उस समय उन लोगों से अपना परिचय छिपाने की इच्छा से 'विविदिषानन्द' नाम का प्रयोग छोड़कर 'विवेकानन्द' नाम धारण कर लिया था[८] और अलवर, अजमेर, आबू, जयपुर, खेतड़ी, जूनागढ़ के भक्तों तथा मित्रों में इसी नाम से परिचित हुए। क्योंकि जब वे दिल्ली से चले तो अखण्डानन्द जी ने चुनौती के स्वर में कहा था – "तुम यदि पाताल में भी चले जाओ, तो वहाँ से यदि मैं तुम्हें खोजकर निकाल नहीं सका, तो मेरा नाम गंगाधर नहीं।" फिर पोरबन्दर में स्वामी त्रिगुणातीतानन्द तथा जूनागढ़ में स्वामी अभेदानन्द से भेंट होने के बाद सम्भवतः अपना परिचय छिपाने के विचार से उन्होंने अपना नाम पुनः बदलकर 'सच्चिदानन्द' कर लिया था; और ऐसा प्रतीत होता है कि **गुजरात के कुछ स्थान, महाराष्ट्र, गोवा, कर्नाटक, केरल तथा तमिलनाडु के लोगों में वे 'सच्चिदानन्द' नाम से ही परिचित थे।** स्वामी अभेदानन्द जी अपनी आत्मकथा में बताते हैं कि अपनी प्रव्रज्या के दौरान जब वे दिल्ली, जयपुर, उदयपुर, आबू, गिरनार आदि स्थानों का भ्रमण कर रहे थे, तभी – "मेरे मन में नरेन्द्रनाथ से मिलने की तीव्र इच्छा जाग्रत हुई। मैंने नर्मदा पार किया और जूनागढ़ की ओर चल पड़ा। मार्ग में मैं पोरबन्दर के श्री शंकर पाण्डुरंग के घर में अतिथि के रूप में ठहरा। श्री शंकर पाण्डुरंग ने मुझे बताया कि कुछ काल पूर्व अंग्रेजी भाषा में पारंगत, सच्चिदानन्द नाम के एक बंगाली संन्यासी पोरबन्दर में आये थे। 'सच्चिदानन्द' नाम के कारण मैं उन संन्यासी को पहचान नहीं सका। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि नरेन्द्रनाथ ने ही गुजरात और कच्छ में भ्रमण करते समय 'सच्चिदानन्द' का छद्मनाम धारण कर लिया था।" संन्यासी का हुलिया सुनकर अभेदानन्द जी को नरेन्द्रनाथ की याद आ गयी और उन्हें उनसे भेंट न हो पाने का खेद होने लगा। इसके बाद वे जूनागढ़ गये। वहाँ उन्हें लोगों से अंग्रेजी बोलनेवाले एक उच्च शिक्षित बंगाली संन्यासी के बारे में जानकारी मिली, जो स्थानीय नवाब के व्यक्तिगत सचिव एक गुजराती ब्राह्मण मनसुखराम सूर्यराम त्रिपाठी के घर में ठहरे हुए थे। उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि उन संन्यासी का नाम 'सच्चिदानन्द' है। उन्होंने सोचा कि 'सच्चिदानन्द' के छद्मवेश में ये अवश्य नरेन्द्रनाथ ही होंगे। उनका अनुमान सही निकला और वे त्रिपाठी जी के घर जाकर स्वामीजी से मिले। इसके बाद वहाँ से विदा लेकर जब अभेदानन्द जी मुम्बई होते हुए महाबलेश्वर पहुँचे और वहाँ वे नरोत्तम मोरारजी गोकुलदास के अतिथि हुए। वे लिखते हैं, "गोकुलदास जी ने स्वामी सच्चिदानन्द अर्थात् नरेन्द्रनाथ के गुरुभाई के रूप में मेरा हार्दिक स्वागत किया।" इसके बाद दक्षिण भारत की तीर्थयात्रा पूरी करके जब अभेदानन्द जी आलमबाजार के मठ में लौटे, तो स्वामी रामकृष्णानन्द जी ने उनसे पूछा कि क्या उनके पास नरेन्द्रनाथ के विषय में कोई सूचना है! इस पर वे बोले, "मैं नरेन्द्रनाथ से जूनागढ़ तथा महाबलेश्वर में मिला और नरेन्द्रनाथ 'सच्चिदानन्द' का छद्मनाम धारण करके पूरे देश का भ्रमण कर रहे हैं।"[९]

८. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, १९९४, पृ. २०६, २८६-८७

जूनागढ़-दीवान के नाम पत्रों में 'विवेकानन्द'

इस प्रकार स्वामीजी के गुरुभाइयों तथा प्रमुख जीवनीकारों ने यह मान लिया था कि स्वामीजी ने अमेरिका के लिये प्रस्थान करने के किंचित् पूर्व १८९३ ई. के अप्रैल-मई माह के किसी दिन खेतड़ी में यह नाम धारण किया था, पर बाद में जूनागढ़ के दीवान हरिदास बिहारीदास देसाई के नाम १८९२ में लिखित उनके मूल पत्र मिले, जिनमें उन्होंने 'विवेकानन्द' नाम से हस्ताक्षर किये थे। अर्थात् वे अमेरिका के लिये रवाना होने के कम-से-कम एक वर्ष पूर्व से ही इस नाम का प्रयोग कर रहे थे। इस प्रसंग में प्रो. शंकरी प्रसाद बसु लिखते हैं – "हरिदास बिहारीदास को २६-४-९२ के पत्र में 'बिबेकानन्द' (Bibekananda) है और १५ जून ९२ के पत्र में 'विवेकानन्द' (Vivekananda), फिर २२ अगस्त को पुनः 'बिबेकानन्द' (Bibekananda)। (मूल पत्रों को मैंने स्वयं देखा है)। वर्तनी में इस प्रकार बारम्बार परिवर्तन से यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय उन्होंने नया-नया ही इस नाम का उपयोग आरम्भ किया होगा।"[१०]

इसके पूर्व फरवरी या मार्च के महीने में गिरनार पर्वत से दीवान हरिदास बिहारीदास को लिखित पत्र में भी उन्होंने 'बिबेकानन्द' (Bibekananda) नाम से ही हस्ताक्षर किये हैं।

पं. झाबरमल शर्मा का मत

खेतड़ी के वाकयात रजिस्टर में पहले दिन से ही 'एक संन्यासी विवेकानन्द' लिखा हुआ दीख पड़ता है।[११] वाकयात रजिस्टर लिखनेवाला कोई बहुत बड़ा विद्वान् नहीं रहा होगा। सम्भव है कि महाराजा ने उसके लिखे हुए कागजात में स्वामीजी का 'विविदिषानन्द' नाम अशुद्ध रूप में लिखा हुआ देखा हो, इसीलिये उनके मन में स्वामीजी के समक्ष ऐसा प्रस्ताव रखने का विचार आया।

खेतड़ी के वाकयात रजिस्टर में पहले दिन से ही 'विवेकानन्द'

९. Complete Works of Swami Abhedananda, Kolkata, Vol. X, Ed. 1970, p. 757-59, 761, 765,

१०. स्वामी विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष (बँगला ग्रन्थ), कोलकाता, खण्ड १, सं. १९७९, पृ. ५९

११. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter of His Life, Edition 1982, p. 209 (लेखक ने मूल वाकयात रजिस्टर की प्रतिलिपि में पहले दिन से ही संन्यासी विवेकानन्द लिखा है, पर उसी ग्रन्थ के पृ. ५१ पर अनुवाद करते समय 'विवेकानन्द' नाम नहीं दिया है।)

लिपिबद्ध होने का कारण बताते हुए श्री बेणीशंकर शर्मा लिखते हैं – "राज्य के इतिहासवेत्ताओं से पूछताछ के बाद पता चला कि वाकयात-नवीसों की यह आम आदत थी कि वे दिन-प्रतिदिन की घटनाओं को पुरजों पर लिख लिया करते थे। इनको बाद में ... सुलिखित किया जाता था और राजा के द्वारा स्वीकृत कराया जाता था।"[१२] अत: सम्भव है कि स्वामीजी के नवीन 'विवेकानन्द' नाम धारण कर लेने के बाद ही वाकयात रजिस्टर का अन्तिम रूप लिखा गया हो।

स्वामी विवेकानन्द जी के अन्तरंग गुरुभाई स्वामी शिवानन्द तथा अखण्डानन्द जी और एक प्रमुख शिष्य स्वामी शुद्धानन्द जी रामकृष्ण संघ के आदिकालीन संन्यासियों में परिगणित होते हैं। इनमें से अखण्डानन्द जी तथा शुद्धानन्द जी ने स्वयं भी खेतड़ी जाकर कुछ काल निवास किया था। अत: उनके द्वारा सुना हुआ यह मत कि अमेरिका जाने के पूर्व खेतड़ी-नरेश के अनुरोध पर ही स्वामीजी ने 'विवेकानन्द' नाम धारण किया था, समीचीन तथा सत्य के काफी निकट प्रतीत होता है। प्रश्न केवल इतना ही है कि 'विवेकानन्द' नाम-ग्रहण की यह घटना उनके अमेरिका-प्रस्थान के कितने दिनों पूर्व हुई थी? इसका उत्तर है पं. झाबरमलजी शर्मा की पुस्तिका में – यह घटना अमेरिका-यात्रा के लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व हुई थी।

१९२७ में प्रकाशित 'खेतड़ी-नरेश और विवेकानन्द' (पृ. १०-११) में पण्डित झाबरमल शर्मा लिखते हैं – "यह बात शायद बहुत कम लोग जानते होंगे कि स्वामीजी का सर्वजन-विदित विवेकानन्द नाम रखनेवाले राजाजी बहादुर ही थे। स्वामीजी अपना नाम विविदिषानन्द लिखा करते थे। यह बात उनके पुराने पत्रों से भी प्रमाणित है। खेतड़ी की *प्रथम यात्रा (१८९१) में* एक दिन स्वामीजी के पास राजाजी बैठे हुए थे। उन्होंने हँसते-हँसते कहा – 'महाराज, आपका नाम बड़ा कठिन है। बिना टीकाकार की सहायता के साधारण लोगों की समझ में इसका मतलब नहीं आ सकता। उच्चारण करना भी सहज नहीं। इसके अतिरिक्त अब तो आपका विविदिषा-काल (विविदिषा का अर्थ है – जानने की इच्छा) भी समाप्त हो चुका।' स्वामीजी ने राजाजी के युक्तियुक्त परामर्श को सुनकर पूछा – 'आप किस नाम को पसन्द करते हैं?' राजाजी ने कहा – 'मेरी समझ से आपके योग्य नाम है – "विवेकानन्द"।' स्वामीजी ने परमानुरक्त राजाजी की इच्छा के अनुसार उस दिन से अपना नाम विवेकानन्द मानकर उसका ही व्यवहार आरम्भ कर दिया। यह नाम कितना प्रसिद्ध हुआ, भारतवासियों को कितना प्रिय हुआ, यह लिख -कर बतलाने की आवश्यकता नहीं है।"

१२. स्वामी विवेकानन्द : उनके जीवन का एक विस्मृत अध्याय, बेणीशंकर शर्मा, अनुवादक – रत्नाकर शर्मा, प्रथम हिन्दी संस्करण १९८४, पृ. ५१

बेणीशंकर शर्मा लिखते हैं – "इस बातचीत के प्रत्यक्ष गवाह उस समय मुंशी जगमोहन लाल थे और जब पण्डितजी यह पुस्तक लिख रहे थे, तब वे जीवित थे और उन्होंने इस घटना का वर्णन उपर्युक्त पुस्तक के लेखक से किया।"[१३]

बेणीशंकरजी के नाम पं. झाबरमलजी शर्मा के एक (तिथिहीन) पत्र की प्रतिलिपि दिल्ली के तीनमूर्ति भवन के अभिलेखागार में संरक्षित है, जिसमें उन्हीं के हस्ताक्षरों में लिखा हुआ है – "स्वामीजी को राजा साहब से मिलानेवाले उनके निजी सचिव मुंशी जगमोहनलालजी थे। स्वामीजी के 'विवेदिषानन्द' नाम की क्लिष्टता को लक्ष्यकर राजा साहब से जो प्रश्नोत्तर हुआ था, उसके साक्षी भी मुंशीजी ही थे। ... मुंशीजी के मत से नाम को लेकर भी राजा साहब की बातचीत आबू में ही हो चुकी थी।"[१४]

निष्कर्ष

पं. झाबरमल जी शर्मा मुंशी जगमोहन लाल के अति घनिष्ट रूप से परिचित थे और उन्होंने स्वामीजी-विषयक अनेक बातें प्रत्यक्ष उन्हीं के मुख से सुनी थी। स्वामीजी सर्वप्रथम खेतड़ी-नरेश से ४, जुलाई १८९१ के दिन मिले थे। यदि उसके पूर्व के किसी प्रामाणिक कागज या पत्र में 'विवेकानन्द' नाम मिल जाता है, तभी इस मत में परिवर्तन करना उचित होगा। अन्यथा यही मानना उचित होगा कि माउंट आबू में १८९१ ई. के जून माह में राजा साहब से परिचय होने के कुछ काल बाद ही उन्हीं के अनुरोध पर स्वामीजी ने 'विवेकानन्द' नाम धारण किया था।

१८९३ ई. में मद्रास से लौटते समय खेतड़ी-राजा से पुन: मिलने के पूर्व ही बम्बई में उतरकर उन्होंने टिकट खरीद लिया था। यह टिकट आरक्षित कराने के लिए साथ में मुंशी जगमोहनलाल भी गये थे और सम्भवत: उन्होंने ही फार्म आदि भरा था। वे स्वामीजी को 'विवेकानन्द' नाम से ही जानते थे, अत: उन्होंने उसी नाम से टिकट कटाया। यदि कदाचित् स्वामीजी मद्रास से ही अमेरिका के लिए रवाना हुए होते, तो ऐसा भी सम्भव है कि वे स्वामी 'सच्चिदानन्द' नाम से ही विश्वविख्यात हुए होते। स्मरणीय है कि स्वामीजी ने राजा अजीतसिंह के नाम मद्रास से लिखे १५ फरवरी, १८९३ के पत्र में 'सच्चिदानन्द' नाम से हस्ताक्षर किया था।

❖ (क्रमश:) ❖

१३. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter of His Life, Second Edition 1982, p. 51 (Also see 'A Comprehensive Biography of Swami Vivekananda, Sailendra Nath Dhar, Madras, Part 1, Ed. 1975, p. 401-02)

१४. इस पत्र की फोटोप्रति पं. झाबरमलजी के पौत्र श्री श्यामसुन्दरजी शर्मा के सौजन्य से प्राप्त हुई।
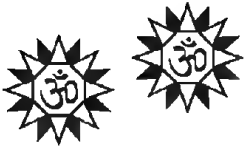
मेरी स्मृतियों में विवेकानन्द (१३)
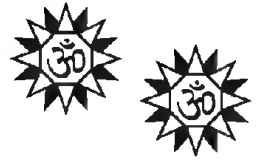
भगिनी क्रिस्टिन

(जो लोग महापुरुषों के काल में जन्म लेते हैं और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, वे धन्य और कृतकृत्य हो जाते हैं। भगिनी क्रिस्टिन भी एक ऐसी ही अमेरिकन महिला थीं। स्वामीजी-विषयक उनकी अविस्मरणीय स्मृतियाँ आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के १९३१ के जनवरी से दिसम्बर तक, फिर १९४५ के स्वर्ण-जयन्ती विशेषांक तथा १९७८ के मार्च अंकों में प्रकाशित हुई थीं। बाद में वे 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में संकलित हुईं, वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

कान्हेरी की गुफाएँ*

(अमेरिका के) सहस्र-द्वीपोद्यान में निवास करते समय स्वामीजी भविष्य के लिये योजनाएँ बनाया करते थे। ये योजनाएँ न केवल उनके भारतीय शिष्यों तथा वहाँ के कार्य के विषय में होतीं, अपितु उनके उन अमेरिकी अनुयाइयों के विषय में भी होतीं, जो भविष्य में कभी भारत जाने की आशा रखते थे। उस समय हमने सोचा था कि उनकी ये योजनाएँ दिवा-स्वप्न मात्र हैं। एक दिन वे बोले – "भारत में एक द्वीप पर, तीन तरफ से समुद्र से घिरी हुई हमारी एक सुन्दर जगह होगी। उसमें निर्मित छोटी-छोटी गुफाओं में से प्रत्येक में दो लोगों के रहने का स्थान होगा। और गुफाओं के बीच स्नान के लिए एक कुण्ड होगा तथा हर गुफा में पेय जल लानेवाली नल की व्यवस्था होगी। सभागृह के लिए खुदाई द्वारा अलंकृत स्तम्भों वाला एक हॉल होगा और उपासना के लिए एक और भी विशाल चैत्य-हॉल होगा। अहा ! वह स्थान क्या ही सुखमय होगा !" उस समय ऐसा लगा मानो वे हवाई किले बना रहे हों। हममें से किसी ने सपने में भी नहीं सोचा था कि इस कल्पना को कभी साकार किया जा सकेगा।

उस टोली में से जिन्हें भारत जाने का सौभाग्य मिला था, उनमें से मैं भी एक थी, वैसे यह अवसर कई वर्षों के बाद आया था। भारत में दो-तीन वर्ष बिताने के बाद, एक बार मैं मुम्बई गयी थी। वहाँ मैं अकेली थी और दो-तीन दिन मेरे पास कोई काम न था। कुछ काल से मेरी कान्हेरी* जाने की इच्छा थी और मैं जानती थी कि वह मुम्बई से ज्यादा दूर नहीं है। मैं उस स्थान के बारे में केवल इतना ही जानती थी कि वहाँ कुछ गुफाएँ हैं, जिनमें एक चैत्य हॉल है, जिसे फरगुसन ने अपने *History of Indian and Eastern Architecture* (भारतीय तथा प्राच्य वास्तुकला का इतिहास) नामक ग्रन्थ में कार्ली के एक चैत्य हॉल का निकृष्ट अनुकरण है। निश्चय ही इसमें आकर्षक जैसा कुछ भी न था। मुझे अपनी इच्छा की तीव्रता पर इसलिये भी आश्चर्य होने लगा कि मुम्बई के आसपास और भी कई गुफाएँ विद्यमान थीं, परन्तु उन्हें देखने की मेरी जरा भी इच्छा नहीं हुई। मुझे इस बात पर बड़ा विस्मय हुआ।

लगता था कि कोई भी मुझे वहाँ जाने का उपाय नहीं बता सकेगा। जिन लोगों से भी मैंने पूछा, उन्होंने कभी कान्हेरी का नाम तक नहीं सुना था। दिन भर पूछताछ करने के बाद किसी ने बताया, "मेरा विचार है कि यदि आप सुबह सात बजे की ट्रेन से बोरीवली नामक स्थान पर चली जायँ, तो वहाँ कोई ऐसा मिल सकता है जो आपको कान्हेरी का मार्ग बता देगा।" मैंने ऐसा ही किया। मैंने पाया कि बोरीवली मुम्बई से केवल २२ मील दूर है। उन दिनों मैं हिन्दुस्तानी भाषा नहीं जानती थी, परन्तु मुझे याद था कि उसे गुहा कहते हैं। स्टेशन पर तीन बैलगाड़ियाँ थीं, जिनमें से एक का गाड़ीवान करीब सत्रह साल का एक लड़का था। देखने में अच्छा लगा। मैं उसके पास गयी और बोली, "गुहा।" उसने अपना सिर हिलाया। मैंने फिर दुहराया – "गुहा, गुहा !" वह अपना सिर हिलाता रहा। तब मेरे मन में एक बुद्धिमत्तापूर्ण विचार आया और मैं बोली – "कान्हेरी, कान्हेरी !" इस बार उसने उत्साहपूर्वक और भी जोरों से सिर हिलाकर स्वीकृति दी। तब मैंने कहा – "कितना?" वह

* महाराष्ट्र सरकार के नवीनतम सूचनाओं के अनुसार कान्हेरी की गुफाएँ मुम्बई से ४२ किलोमीटर की दूरी पर स्थित हैं। १०० से भी अधिक संख्या में ये गुफाएँ पश्चिमी भारत की बौद्ध गुफाओं में सबसे बड़ी गुफा-शृंखला है। इनमें प्राचीनतम गुफाएँ हीनयान काल का बौद्ध स्थापत्य प्रस्तुत करती हैं, जो एक गोलाकार पर्वत को खोदकर बनायी गयी हैं। इनका निर्माण द्वितीय से नवीं शताब्दी तक हुआ है। गुफा संख्या १, २ तथा ३ अपने विशाल स्तम्भों, स्थापत्य तथा स्तूपों के लिये विशेष उल्लेखनीय हैं। गुफा संख्या ३ चैत्य हॉल कहलाता है। गुफा संख्या १० सभागार जैसी प्रतीत होती है। गुफा संख्या ५६ से अरब सागर की दृश्यावली बड़ी मनमोहक है। आज भी ये गुफाएँ जंगलों से घिरी हुई हैं।

अपनी तीन अंगुलियाँ उठाते हुए बोला – "तीन रुपिया।" मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। मैं गाड़ी में सवार हो गयी।

सड़क पहले कटनी हो चुके एक खेत से होकर गुजरी और उसके बाद एक जंगल में प्रविष्ट हुई। ज्यों-ज्यों हम उसके अन्दर जाने लगे, त्यों-त्यों जंगल और भी घना तथा अन्धकारमय होता गया। बीच-बीच में वृक्षों के पीछे से हमारी ओर देखते हुए धनुष-बाण-धारी श्यामवर्णी वनवासियों की भी झलक मिल जाती थी। सड़क धीरे-धीरे पगडण्डी में परिणत हो गयी और आगे चलकर वह भी समाप्त हो गयी। तब मेरा युवा गाड़ीवान ठहर गया और बोला – "यहाँ से आपको अकेली ही जाना होगा।" सुनकर मैं तो हक्की-बक्की रह गयी। मुझे समझ में नहीं आता है कि कैसे, परन्तु हम दोनों एक-दूसरे की बातें समझ पा रहे थे। मैंने कहा – "लेकिन मैं अकेली नहीं जा सकती। मैं रास्ता नहीं जानती। तुम्हें मेरे साथ चलना होगा।" उसने उत्तर दिया – "मैं अपने बैलों को छोड़कर नहीं जा सकता।" तब मुझे पता नहीं था कि उस जंगल में बाघों का निवास है और वे उसके बैलों को मार सकते हैं, इसलिये मैंने उसे सलाह दी कि वह बैलों को पेड़ से बाँधकर मेरे साथ चले। थोड़ी हिचकिचाहट के बाद उसने मेरी बात मान ली।

थोड़ी देर (पैदल) चलने के बाद हम एक पहाड़ी सोते के पास पहुँचे, जो उस मौसम में करीब-करीब सूख चुका था। सोते के उस पार एक छोटी पहाड़ी थी। वहाँ हमें पत्थर को काटकर बनायी हुई सीढ़ियाँ मिलीं, जो ऊपर तक चली गयी थीं। और उस पहाड़ी की चोटी से दिखनेवाली दृश्यावली क्या ही अद्‌भुत थी! – तीन ओर समुद्र था, एक जंगल सागरतट तक चला गया था, वहाँ पत्थर को काटकर बनाये हुए बैठने के लिये आसन थे और पहाड़ को तराशकर बनायी हुई मूर्तियों से युक्त भव्य आकार के हॉल थे। यहीं वह सब कुछ था – तीन ओर समुद्र से घिरा एक द्वीप, कार्ली की नकल पर बना हुआ एक भव्य चैत्य हॉल, पत्थर की दो-दो खाटों से युक्त छोटे-छोटे कमरे, कमरों के बीच पानी के कुण्ड और पानी लाने की नालियाँ! मानो एक स्वप्न ही सहसा सत्य हो उठा हो। स्थान निर्जन था, यहाँ तक कि वहाँ कोई चौकीदार तक न था।

काफी काल पूर्व अमेरिका में स्वामीजी के मुख से सुनी हुई परीकथा के साथ प्रत्येक दृष्टि से साम्य रखनेवाले उस परित्यक्त स्थान में पहुँचकर मैं अत्यन्त अभिभूत हो गयी। इसलिये शायद इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उस रात मैंने एक बड़ा जीवन्त स्वप्न देखा, जिसमें अति प्राचीन काल में वहाँ के बहुसंख्य अन्तेवासियों के साथ मैं भी उस दरबार हॉल में उपस्थित थी। मैंने सभा में एकत्र साधकों तथा उन्हें शिक्षा देते हुए आचार्य को भी देखा। वहाँ जो कुछ कहा जा रहा था, उसे भी मैं सुन पा रही थी और मैंने पाया कि जिन शिक्षाओं से मैं सुपरिचित थी, उनसे बाह्य रूप से थोड़ी भिन्न होने के बावजूद, तात्पर्य के रूप में वे उनसे मेल खा रही थीं। पूरे अगले दिन और आनेवाले अनेक दिनों तक मेरे मन में वही भाव बना रहा। वस्तुत: यह मेरे मानसपटल पर चिरकाल के लिये अंकित हो गया था। परन्तु खेद की बात यह है कि वहाँ जो कुछ कहा गया था, उन शब्दों को मैं स्मरण नहीं रख सकी।

जिस अनुभूति ने मुझे इतनी गहराई तक प्रभावित किया था, उससे अभिभूत मानस के साथ मैं कोलकाता लौटी। जब मैंने स्वामी सदानन्द को उन १०९ गुफाओं से युक्त परित्यक्त द्वीप की खोज के बारे में सूचित किया और बताया कि कैसे स्वामीजी ने (अमेरिका के) सहस्र-द्वीपोद्यान में उस स्थान का वर्णन किया था, तो वे बोले, "हाँ, अमेरिका जाने के पूर्व पश्चिमी भारत का भ्रमण करते समय स्वामीजी ने उन गुफाओं को देखा था। उस स्थान ने स्वामीजी के हृदय को बड़ी गहराई से अभिभूत कर दिया था, क्योंकि लगता है कि वहाँ उन्हें अपने किसी पूर्वजन्म में निवास की स्मृति आ गयी थी। उन दिनों वह स्थान अज्ञात तथा विस्मृत हो चुका था। स्वामीजी को आशा थी कि भविष्य में कभी वे उसका अधि-ग्रहण करके उसे अपने भावी कार्यों का एक केन्द्र बनायेंगे। बाद में अपने पश्चिमी भारत में भ्रमण के दौरान मैंने भी उसे देखा था और अब तुमने भी उसे ढूँढ़ निकाला है। भूतकाल में हम सभी वहाँ रह चुके हैं!"

परवर्ती काल में जब वे उसे लेने की स्थिति में हुए, तब वह उपलब्ध नहीं था, क्योंकि सरकार उसका अधिग्रहण कर चुकी थी। अब वहाँ एक चौकीदार रहता है। वहाँ तक के लिये सड़क बन गयी है, जंगल कट गये हैं और वहाँ प्राय: ही पिकनिक के लिये जानेवाली टोलियाँ दीख पड़ती हैं।

कान्हेरी मुम्बई से करीब बीस मील उत्तर में सेलसेट द्वीप पर स्थित है। वस्तुत: यह मुख्य भूमि का ही एक अंश है और उससे वह एक सोते के द्वारा कटा हुआ है। बाकी तीनों ओर से उसे समुद्र ने घेर रखा है। ईस्वी सन् के प्रारम्भिक वर्षों से ही यह द्वीप बौद्ध संघ के संन्यासियों से आबाद था। कहते हैं कि उसके महान् चैत्य हॉल का उद्‌घाटन ईस्वी सन् ४ में सुप्रसिद्ध बुद्धघोष के हाथों हुआ था। हॉल के प्रवेश द्वार पर ही एक शिलालेख में यह बात लिखी हुई है। उन दिनों यह महानतम बौद्ध केन्द्रों में से एक रहा होगा। बुद्धघोष कान्हेरी से श्रीलंका चले गये और वहाँ से ब्रह्मदेश (म्यामार) जाकर बौद्ध धर्म का श्रीगणेश किया। वे अपनी वाग्विदग्धता के लिये प्रसिद्ध उस युग के एक महान् प्रचारक थे। 'महामार्ग' नामक उनका महान् ग्रन्थ आधुनिक काल में भी उपलब्ध है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

माँ श्री सारदा देवी (५)

आशुतोष मित्र

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी। यहाँ उसके प्रथम तीन अध्याय ही लिये गये हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(पुरी में) क्षेत्रवासी-मठ के बाहरी कमरे में माँ के चाचा, लेखक तथा एक सेवक और अन्दर महिलाओं के रहने की व्यवस्था हुई। बाहर के मुख्य द्वार पर एक चौकीदार भी था। तीन दिनों के कठोर परिश्रम और तीन रात जागने के कारण मैं थककर वहाँ पहली रात इतनी गहरी निद्रा में सो गया था कि कब चोर आकर हमारे कमरे से चाचा के और मेरे कपड़े चुराकर ले गया, मुझे पता ही नहीं चला। चाचा को थोड़ी अफीम खाने की आदत थी। सुबह जब उनकी नींद खुली और उन्होंने कमरे का द्वार खोलकर कपड़े गायब देखा, तो चिल्ला उठे।

चिल्लाना सुनकर मैं जाग गया। तुरन्त घर के भीतर जाकर देखा – सब कमरे बन्द मिले। वहाँ कुछ नहीं हुआ था – केवल हमारा ही गया था। शशी-निकेतन में चोरी की खबर देने पर बाबूराम महाराज तथा राम आये और हम लोगों ने थाने में जाकर रिपोर्ट लिखवाया। थानेदार की खोजबीन के फलस्वरूप चोर छह मील दूर माल के साथ पकड़ा गया। यथासमय अदालत में गवाही देकर और कपड़े पहचान कर मैं उन्हें वापस ले आया।

सुबह हम लोग माँ के साथ श्री जगन्नाथ का दर्शन करने जाते और शाम को जाकर आरती देखते। एक दिन माँ की इच्छा से क्षेत्रवासी-मठ में 'कथा' का आयोजन हुआ। पण्डे ने आकर पोथी से जगन्नाथ का इतिहास और माहात्म्य पाठ किया। उस दिन वहाँ करीब पचास पण्डों ने भोजन किया।

वहाँ माँ के पाँव में एक फोड़ा हो गया था। इससे उन्हें बड़ा कष्ट हो रहा था। फोड़ा खूब पक गया था, पर माँ उसे फोड़ने नहीं दे रही थीं। एक दिन इसी अवस्था में वे मन्दिर में आरती देख रही थीं, उसी समय पीछे से यात्रियों के भीड़ का ऐसा दबाव पड़ा कि हम लोगों का घेरा टूट गया। माँ घाव में चोट लगने के डर से चिल्ला उठीं।

यह घटना सुनने के बाद अगली सुबह बाबूराम महाराज उनके लिये एक युवा डॉक्टर को ले आये। हम लोगों के पूर्व निर्देश के अनुसार उसने प्रणाम करते-करते फोड़े में चीरा लगा दिया और – "माँ, मेरा अपराध क्षमा कीजियेगा" – कहकर चला गया। तत्काल हम लोगों ने दोनों हाथों से पाँव दबाया, तो मवाद बाहर निकल आया। माँ ने भलीभाँति चादर लपेट रखा था, अत: वे डॉक्टर का कार्य देख नहीं सकीं। बाबूराम महाराज पास नहीं आये। वे कमरे के बाहर खड़े थे और डॉक्टर को साथ लेकर चले गये।

माँ नाराज हो गयीं और उन्हें खूब भला-बुरा कहने लगीं। मैं बोला – "माँ, दोष मेरा ही है, अभिशाप देना हो तो मुझे ही दे दो।" उन्होंने बहुत-कुछ कहा, पर अभिशाप नहीं दिया। पहले से ही लाये रखे नीमपत्ते के जल से घाव को धोकर पट्टी बाँध देने से उन्हें बड़ी राहत मिली। इसके बाद चादर हटाकर अपने पैर फैलाकर बैठती हुई वे बोलीं, "अहा ! अब थोड़ा चैन मिला।" फिर न जाने उनके मन में क्या आया कि थोड़ी देर पूर्व वे जिस सन्तान को डाँट रही थीं, उसी की ठुड्डी छूकर दुलार करने लगीं। वह डाँट और यह दुलार मैं कभी भूल नहीं सकता।

प्रतिदिन फोड़े को धोना और पट्टी बाँधना चलता रहा। दो-चार दिनों में ही वह ठीक हो गया। अब पट्टी बाँधने और पैर धोने की भी आवश्यकता नहीं रही। तभी एक दिन माँ ने मुझे अकेले में बुलाकर पूछा – "जयरामबाटी जा सकेगा?" मैंने उत्तर दिया – "क्यों नहीं जा सकूँगा माँ?" उन्होंने जाकर नानी और काली मामा को बुला लाने को कहा। निश्चित हुआ कि अगले दिन रात की गाड़ी से जाऊँगा।

अगले दिन शाम को मन्दिर में आरती देखने के बाद लौटकर माँ विश्राम कर रही थीं। उन्होंने मुझे चरण-सेवा करने के लिये बुलाया और धीरे-से बोलीं, "तुलसी के नीचे निर्माल्य है, उसे लेते जाना" और प्रकट रूप से गोलाप-माँ को पुकारकर कहा – "आशु भूखा है – खाने को दो।" भोजन के बाद माँ को प्रणाम करके चुपचाप रवाना हुआ।

माँ के इस प्रकार चुपचाप कार्य करने का उद्देश्य केवल इतना ही था कि छोटी मामी को इस बात की जानकारी न हो। वे पागल हो जाने के बाद से यह नहीं चाहती थी कि माँ उनके सिवा किसी अन्य भाई या भावज से प्रेम करें या उनके लिए कुछ करें। नानी आदि को लाने हेतु मेरे प्रस्थान करने के चार दिन पूर्व ही गौरी-माँ (ठाकुर की संन्यासिनी भक्त, जो

बाद में श्री सारदेश्वरी आश्रम की संस्थापिका हुई) पुरी आईं और हमारी टोली में शामिल हो गयीं।

विष्णुपुर का टिकट लेकर मैं यथासमय ट्रेन में बैठा। फिर विष्णुपुर में उतरकर किराये की ऊँटगाड़ी से कोतुलपुर गया। वहाँ से पैदल जयरामबाटी जाकर नानी और काली मामा को बताया कि मैं माँ के आदेश से उन्हें पुरी ले जाने को आया हूँ। अगले दिन प्रस्थान करने की बात तय हो जाने पर काली मामा अपनी पत्नी तथा बच्चों को सूचित करने अपने ससुराल मड़ागढ़ गाँव चले गये। उनका परिवार उस समय वहीं था। जाते समय काली मामा कह गये कि अगले दिन सुबह मैं नानी को वहीं लेता आऊँ, वे वहाँ बैलगाड़ी की व्यवस्था कर रखेंगे और गड़बेता के मार्ग से जाना होगा।

इधर सीताराम घोष नामक एक वृद्ध सज्जन आकर नानी से अनुरोध करने लगे कि वे उन्हें भी साथ ले जायँ। वैसे अपना खर्च वे स्वयं देनेवाले थे। नानी राजी हो गयीं।

अगले दिन नानी और सीताराम को साथ लिये मड़ागढ़ पहुँचकर मैंने पाया कि काली मामा ने पुरी जाने के लिए एक पूरी टोली ही बना रखी है। इस पर कुछ कहना अनुचित समझकर मैं चुप रहा। दो बैलगाड़ियों की व्यवस्था हुई थी। एक में नानी, अपने दोनों बच्चों के साथ काली मामा की पत्नी और गाड़ीवान के पास सीताराम बैठे। दूसरी में काली मामा, उनके ससुर तथा लेखक सवार हुए। दोनों गाड़ियाँ रात भर चलकर अगले दिन सुबह गड़बेता स्टेशन के पास के गाँव में पहुँचीं। एक दुकान में दोपहर का भोजन करने के बाद ट्रेन में चढ़कर अगले दिन सुबह हम लोग पुरी पहुँचे।

मड़ागढ़ से गड़बेता के रास्ते में रात के समय शालवन से होकर आते समय एक मोड़ पर सहसा नानी की गाड़ी पलट गयी। इसके फलस्वरूप सीताराम के ऊपर नानी और नानी के ऊपर मँझली मामी और उनके दोनों पुत्र आ गिरे। उन लोगों के, विशेषकर नानी के – 'मर गई, मर गई' – चिल्लाने पर मैं दौड़ा और उन्हें सही-सलामत बाहर खींचकर बोला, "नानी, आपको मरने नहीं दूँगा – माँ रोयेंगी न!"

हमें क्षेत्रवासी-मठ में पहुँचते ही देखकर छोटी मामी, जो लेखक के अचानक गायब हो जाने से अब तक माँ को तरह-तरह से परेशान कर रही थीं, सारी बात समझ गयीं और माँ के पास जाकर हाथ-मुँह नचाते हुए न जाने क्या-क्या बकने लगीं। उत्तर में माँ ने कहा, "मैं क्या केवल तुम्हीं को लेकर रहूँगी? ये लोग क्या मेरे कोई नहीं है?"[२१]

अग्रहायण मास में पुरी में श्री बलराम को विशेष भोग दिया जाता है, जो अत्यन्त स्वादिष्ट और विविधतापूर्ण होता है। हम लोग उसे प्रतिदिन खाते। श्रीमन्दिर के प्रांगण में बैठकर आचाण्डाल सबके मुख में महाप्रसाद देना और उनके हाथ से स्वयं खाना वहाँ श्रीमन्दिर की रीति है। इस रीति के अनुसार एक दिन माँ एक चबूतरे पर बैठकर हम सभी के मुँह में महाप्रसाद दे रही थीं और स्वयं भी खा रही थीं, तभी मास्टर महाशय और वरदा कुमार (मँझले मामा) कोलकाता से सहसा वहाँ आ पहुँचे और प्रसाद ग्रहण किया।

जयरामबाटी से जो लोग आये थे, उनमें नानी के अलावा बाकी सभी लोग कुछ दिनों बाद लौट गये।

पुरी आने के बाद से ही माँ के पाँव में फोड़ा होने और काली मामा के आ जाने के कारण माँ इतने दिनों तक मन्दिर के सिवा अन्यत्र कहीं भी नहीं जा सकी थीं। अब उनके चले जाने के बाद माँ घूमने जाने लगीं। राम की माँ[२२] और निताई की माँ[२३] (राम की चाची) शशी निकेतन में रहा करतीं। वे प्राय: ही क्षेत्रवासी-मठ में आतीं और किसी-किसी दिन शाम को माँ के साथ घूमने भी जातीं।

(पुरी-निवास के दौरान) माँ ने दो बार समुद्र-स्नान किया था। एक दिन वे स्वर्गद्वार देखने गयीं। प्राय: ही वे श्री मन्दिर की प्रदक्षिणा करने जाती थीं। एक दिन जाकर श्री जगन्नाथ का रसोईघर देखा। एक दिन गुण्डिचाबाड़ी गयीं। उतना बड़ा मन्दिर उन्होंने घूम-घूमकर देखा। उस दिन लक्ष्मी-जला भी गयीं। लक्ष्मीजला की विशेषता यह है कि उस जला में श्री महाप्रभु के दैनन्दिन भोग के निमित्त बारहो महीने नित्य नया धान पैदा होता रहता है। नित्य उस धान से चावल बनाकर उन्हें भोग दिया जाता है।

एक अन्य दिन हम लोग विजयकृष्ण गोस्वामी महाशय की समाधि देखने नरेन्द्र-सरोवर गये। गोस्वामीजी के पुत्र ने हमारा स्वागत किया। सरोवर और उससे संलग्न मठ रमणीय है। श्री शंकराचार्य का गोवर्धन मठ भी देखा गया।

पुरी निवास काल के अन्त में माँ का स्वास्थ्य अपेक्षाकृत सुधर गया था और सम्भवत: इसी कारण तब वे खूब बातचीत, आमोद-प्रमोद और हास-परिहास किया करती थीं।

एक दिन बातें करते-करते स्वामीजी के दुर्गापूजा का प्रसंग उठने पर वे बोलीं – "नरेन्द्र की क्या ही गुरुभक्ति थी! मेरे नाम संकल्प कराया। बोला – माँ के नाम संकल्प होगा।

---

२१. इस विषय में विस्तृत जानकारी हेतु देखें – श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी गम्भीरानन्द, ५वाँ सं. २००३, पृ. १६१-६२ और माँ करुणामयी श्रीसारदा देवी, ब्रह्मचारी अक्षयचैतन्य, नागपुर प्र. सं., पृ. १०६-०७

२२. बलराम बसु की पत्नी कृष्णभाविनी बसु।

२३. नित्यानन्द बसु की माँ और साधु प्रसाद बसु की पत्नी शरत् कुमारी। साधु प्रसाद बलराम बसु के छोटे भाई थे। साधु प्रसाद के पुत्र नित्यानन्द वसु की पत्नी के विवाह के पहले का नाम हरिभाविनी था, परन्तु बड़े ससुर हरिवल्लभ तथा बलराम बसु की पत्नी कृष्णभाविनी के नाम के साथ साम्य होने के कारण परिवार के लोगों ने उनका नाम 'कमलाबाला' या संक्षेप में 'कमला' कर दिया। वे पथुरियाघाटा के खेलात घोष के पुत्र रमानाथ घोष की चौथी पुत्री थीं। स्वामी ब्रह्मानन्द उन्हें 'देवी' कहते थे। वे छोटी उम्र में ही चल बसीं।

हम लोग तो कौपीनधारी हैं – हमारे नाम से नहीं होगा।'' केष्टलाल[२४] मेरे पास था, उसी से पूजा करायी। शशी (स्वामी रामकृष्णानन्द) के पिता तंत्रधारक थे। मुझे ले जाकर कई दिनों तक नीलाम्बर के मकान में रखा था।''

एक अन्य समय वे बोलीं – ''तुमने काला पहाड़ की बात तो सुनी है न? ब्राह्मण की सन्तान था, परन्तु क्या नहीं किया! हिन्दुओं के देवी-देवताओं को बिलकुल भी नहीं छोड़ा – सब तोड़-ताड़कर चकनाचूर कर दिया।''

एक दिन माँ को हास-परिहास करते देखकर नटी की माँ बोली – ''माँ तुम हँसी की इतनी बातें जानती हो!'' माँ ने कहा – मुझे क्या देखती हो? ठाकुर को देखा है न? उनकी बातें तो खत्म ही नहीं होती थीं – इतनी बातें वे जानते थे।''

माघ के महीने में माँ कोलकाता के बागबाजार स्ट्रीट के मकान पर लौट आयीं। नानी भी हम लोगों के साथ कोलकाता आयीं। नानी भी नाती के बारे में हम लोगों के साथ उसी प्रकार हँसी करती थीं और हम लोग भी नहीं छोड़ते थे। एक दिन हमने उन्हें बागबाजार के नवीन मयरा की दुकान का रसगुल्ला और सन्देश खिलाने के बाद पूछा कि कैसा लगा, तो वे बोलीं – ''भाई, वह भी क्या खाक मीठा था? थोड़ा कच्चा गुड़ मिल जाता, तो जान-में-जान आती।''

कुछ दिन कलकत्ता में रहने के बाद नानी प्रसन्न कुमार के मित्र रामनाथ बैनर्जी के साथ जयरामबाटी चली गयीं।

माँ के चाचा नीलमाधव बहुत दिनों से दमे के रोग से पीड़ित थे – कभी वे ठीक रहते, तो कभी उसमें वृद्धि हो जाती। इस समय उसी के कारण उन्होंने बिस्तर पकड़ रखा था। विभिन्न चिकित्साओं से भी बीमारी दूर नहीं हुई। धीरे-धीरे उनका अन्तिम समय आ गया। माँ ने स्वयं उनकी बड़ी सेवा की, पर कोई लाभ नहीं हुआ। अन्तिम दिन सुबह से ही मृत्यु के लक्षण उनके चेहरे पर झलक उठे। शरीर में बारम्बार ऐठन होने लगी। हम लोगों के बारम्बार कहने पर माँ बीच-बीच में जाकर ठाकुर की पूजा-भोग आदि कर आयीं, पर वे चाचा को छोड़कर हटना नहीं चाहती थीं, उन्हीं के पास बैठी पूछती रहीं – ''अब कैसा देख रहे हो?'' हम लोगों का एक ही उत्तर था – ''लगता है, ठीक हो जायेंगे, चिन्ता की कोई बात नहीं।'' हम लोगों का उत्तर सत्य नहीं था – केवल झूठी बातों से उन्हें भुलावा देना मात्र था।

क्रमश: माँ के भोजन का समय हुआ, वे खाना नहीं चाह रही थीं। पुन: भुलावा देकर उन्हें भेजा गया, पर उधर वे गयीं और इधर चाचा ने परलोक-गमन किया। उस समय चाचा के पास लेखक के सिवा एक स्त्री-भक्त भी थीं। उनसे माँ के भोजन कर लेने तक धैर्य धारण करने का अनुरोध करने, पर वे माँ के भोजन को जरूरी समझकर चुप रहीं। मैंने उनसे यह भी कहा – ''माँ की कालीमूर्ति को केवल डकैत पिता ने ही देखा था, ऐसा नहीं है, आज हम लोगों को भी देखना पड़ेगा। खड्ग यदि मेरे सिर पर गिरता है, तो गिरे।'' इतनी बात कहते-न-कहते माँ जैसे-तैसे कुछ खाकर चली आईं। हमें चुपचाप सिर झुकाये देखकर वे सब समझ गयीं। बोलीं – ''तो क्या चाचा नहीं रहे?'' माँ की पहले की सौम्यमूर्ति चली गयी – दोनों नेत्र मानो स्थिर होकर बाहर निकल आये। मैं सिर झुकाये रहा। वे बोलती रहीं – ''वह राख-पात खाने के लिए मुझे क्यों भेजा? खाना ही क्या बड़ा काम था? चाचा को एक बार अन्तिम समय देख भी नहीं सकी?'' इतना कहकर वे काँपते हुए उच्च स्वर में रोने लगीं। इस बीच वे स्त्री-भक्त चली गयी थीं। मैं एकाकी सिर झुकाये बैठा रहा। वे खूब भर्त्सना करती रहीं – पर मेरे कानों में कुछ भी नहीं घुसा। उस समय मुझे केवल उनके खड्ग की प्रतीक्षा थी। और बीच-बीच में मैं उस अपूर्व मूर्ति को देख लेता था।

पर न जाने क्यों, वह मूर्ति अन्तर्धान हो गयी और वही पहले की सौम्यमूर्ति प्रगट हुई। वे रोते हुए बोलीं – ''बेटा आशु, जरा चाचा के पास बैठो, मैं आती हूँ।'' यह कहकर वे अपने कमरे में गयीं, लौटकर शव के मस्तक तथा छाती पर हाथ रखकर जप किया और दोनों स्थानों पर निर्माल्य रख दिया। तब सुयोग पाकर मैं बोला – ''माँ, दोष यदि किसी का है, तो वह एकमात्र मेरा है।'' उनके चेहरे की ओर देखा, तो वही करुण दृष्टि! तब उन्हें बैठाकर मैं नीचे गया और शरत् महाराज से समुचित बन्दोबस्त करने को कहकर पुन: ऊपर आया। नीचे ललित[२५] और उसकी गाड़ी को देखा।

लगभग आधे घण्टे बाद ललित तैयार होकर ऊपर आया और दो लोग मृतदेह को नीचे उतार ले गये। माँ खूब रोने लगीं। ललित से सूचना पाकर प्रसन्न-मामा भी आ गये। गणेन्द्रनाथ भी आ गये। चारों ने चाचा की मृतदेह (काशी मित्र घाट पर स्थित) श्मशान में ले जाकर यथारीति उनका अन्तिम संस्कार किया। प्रसन्न मामा ने उन्हें मुखाग्नि दी।

ललित और लेखक जब चाचा की मृतदेह को ऊपर से नीचे उतार रहे थे, तब गोलाप माँ को शिकायत करते सुना – ''माँ, आशु ने शुद्र होकर भी ब्राह्मण के शव का स्पर्श किया?'' माँ का उत्तर कानों में पड़ा – ''शुद्र क्यों? – बेटा है। भक्तों की भी क्या कहीं जाति होती है, गोलाप?''

चाचा की मृत्यु के बाद चौथे दिन चतुर्थी के उपलक्ष्य में माँ ने हम तीन (प्रसन्न मामा को अशौच के कारण छोड़ दिया गया) लोगों को भोजन कराया और एक-एक वस्त्र दिया।

❖ (क्रमश:) ❖

२४. कृष्णलाल महाराज – स्वामी धीरानन्द

२५. इसका नाम था ललितमोहन चट्टोपाध्याय। ये जॉन डिकिन्सन कम्पनी में सेल्समैन थे। इस ग्रन्थ में इनसे कई बार भेंट होगी।

नागपुर में श्रीरामकृष्ण-मन्दिर का उद्घाटन

१० फरवरी, २००६ को प्रात: रामकृष्ण मठ, नागपुर में रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के महाध्यक्ष परम पूज्य स्वामी गहनानन्द जी महाराज ने श्रीरामकृष्ण-मन्दिर का उद्घाटन किया। इस पावन अवसर पर रामकृष्ण मठ के वरीष्ठ उपाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी आत्मस्थानन्द जी और महासचिव श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्द जी भी उपस्थित थे। इस समारोह में भारत और विदेशों से आगत ३८१ संन्यासी-ब्रह्मचारियों एवं भारत के विभिन्न राज्यों से आये ४१०० भक्तों ने भाग लिया। १० फरवरी को सम्पन्न मुख्य कार्यक्रम में लगभग ९००० भक्त उपस्थित थे।

इस महान् उत्सव का श्रीगणेश ६ फरवरी को ही प्रसिद्ध वैदिक ब्राह्मणों द्वारा 'विष्णु पंचायतन यज्ञ' से हुआ। इसके साथ ही विविध प्रकार के कार्यक्रम, वरिष्ठ संन्यासियों एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों के व्याख्यान, विख्यात कलाकारों द्वारा भक्ति-संगीत, वाद्य-वादन तथा प्रतिभाशाली छात्रों द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि प्रस्तुत किये गये।

आश्रम-प्रांगण में नव-निर्मित पूजा-पांडाल में वैदिक ब्राह्मणों द्वारा ७ फरवरी को ८ से १२ बजे तक विष्णु-सूक्त तथा रुद्र-सूक्त और ८ फरवरी को भी ८ से १२ बजे तक ब्रह्मणस्पति-सूक्त तथा सौर-सूक्त हवन किये गये। ८ फरवरी को मुख्य पांडाल में सायं ६ से ८.३० बजे तक नागपुर के प्रसिद्ध मराठी कीर्तनकार श्री मुकुन्दबुआ देवरस ने श्रीरामकृष्ण के जीवन पर आधारित कीर्तन प्रस्तुत किया।

९ फरवरी, गुरुवार को (प्रात: ८.१५ से ८.४५ बजे तक) बेलूड़ मठ के संन्यासियों के वैदिक मंत्रपाठ से कार्यक्रम का शुभारम्भ हुआ। ९ से ११.४५ बजे तक सारदा मठ एवं मिशन, दक्षिणेश्वर की महासचिव प्रव्राजिका अमलाप्राणा माताजी की अध्यक्षता में '**श्रीमाँ सारदा देवी का आदर्श तथा समाज में नारी का उत्थान**' विषय पर एक सभा हुई, जिसमें श्रीसारदा मठ, इन्दौर की अध्यक्ष प्रव्राजिका अमलाप्राणा, पुणे की श्रीमती जयश्री नातू, मुम्बई की डॉ. निवेदिता बख्शी तथा हैदराबाद की डॉ. कमला जयराव ने अपने अमूल्य व्याख्यान दिये। उसके बाद १ बजे तक मुम्बई के डॉ. राम देशपाण्डे ने भजन प्रस्तुत किये। २.३० से ४.३० बजे तक शेगाँव के संत गजानन महाराज वारकरी शिक्षण संस्थान के विद्यार्थियों ने मराठी में भजन एवं भारुढ – 'हरि से कोई नहीं बड़ा दिवाना, कृष्ण डोलत (आरती) एवं पगली का अभिनय' आदि प्रस्तुत किया।

५ से ६.३० बजे तक धर्मसभा हुई जिसका विषय था – '**सार्वजनीन मन्दिर की आवश्यकता**'। रामकृष्ण मठ/मिशन के वरिष्ठ उपाध्यक्ष स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज ने दीप प्रज्वलित करते हुए सभा का उद्घाटन किया और सभाध्यक्ष के रूप में रानी रासमणि के जीवन की उस प्रेरक घटना का उल्लेख किया, जिसमें तीर्थयात्रा पर जाते समय उन्हें माँ काली के उन्हें स्वप्न देकर कोलकाता में अपना मन्दिर बनवाने का आदेश दिया था। महाराज ने मन्दिर-प्रतिष्ठा के अवसर पर आश्रम द्वारा प्रकाशित सुन्दर स्मारिका – 'समन्वय-शिल्प' तथा कई पुस्तकों का विमोचन भी किया। स्वामी ब्रह्मस्थानन्द जी ने आगत सभी संन्यासियों तथा भक्तों का स्वागत किया। सभा के वक्ता स्वामी स्मरणानन्द जी ने कहा कि यह मन्दिर सभी धर्म-वर्ग-जातियों के लिये खुला रहेगा। स्वामी वागीशानन्द जी महाराज ने कहा कि प्रार्थना-जप-ध्यान, मन्दिर का पवित्र वातावरण पूरे परिवेश को उज्ज्वल करता रहेगा। स्वामी जितात्मानन्द जी ने कहा कि अमेरिका सरकार ने वहाँ के रामकृष्ण-मन्दिर को राष्ट्रीय सम्पदा के रूप में घोषित किया है। यह रामकृष्ण-मन्दिर की विशेषता है। स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने विस्तृत उद्धरण देते हुए बताया कि मानव-सेवा वास्तविक पूजा है। ७ से ८.३० तक स्वामी अनिमेषानन्द जी के भजन हुए।

१० फरवरी, शुक्रवार को ६.३० बजे से पुराने मन्दिर से नये मन्दिर तक एक विशाल एवं भव्य शोभायात्रा निकाली गयी। इसमें ३८१ केवल संन्यासी तथा ब्रह्मचारी भजन तथा नृत्य करते हुये मन्दिर की परिक्रमा की, जिसका नेतृत्व रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ उपाध्यक्ष स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज ने किया। इस झाँकी में संघ के वरिष्ठ संन्यासियों द्वारा श्रीरामकृष्णदेव, श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शिवानन्द और स्वामी अखण्डानन्द जी के चित्रपट आगे-आगे वहन किये जा रहे थे तथा अन्य संन्यासी-ब्रह्मचारीगण अपने-अपने हाथों में केसरिया ध्वज लिये, कीर्तन-नृत्य

करते हुये मन्दिर की परिक्रमा कर रहे थे । जुलूस के दोनों किनारों पर हजारों भक्त सुनियन्त्रित खड़े-खड़े इस दिव्य झाँकी एवं आनन्दमय परिवेश में भाव-विभोर हो रहे थे । नये मन्दिर की तीन परिक्रमा के बाद शोभायात्रा ने मन्दिर में प्रवेश किया । स्वामी गहनानन्द जी महाराज ने इस नये मन्दिर में प्राण-प्रतिष्ठा की । उस दिन बेलूड़ मठ के वरिष्ठ संन्यासी श्रीमत् स्वामी वैद्यनाथानन्द जी तथा स्वामी अलिप्तानन्द जी ने श्रीठाकुर की विशेष पूजा इत्यादि की । मन्दिर में भक्ति-संगीत स्वामी त्यागात्मानन्द जी महाराज ने किया । इसी के साथ ८ बजे से नये मन्दिर में प्रतिष्ठित श्रीठाकुर की भव्य मूर्ति को भक्तों के दर्शनार्थ खोल दिया गया । १० फरवरी को ही नये मन्दिर के तलघर में श्रीमत् स्वामी गहनानन्द जी महाराज ने 'स्वामी अखण्डानन्द सभागृह' का उद्घाटन किया । स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज ने नागपुर आश्रम में पदार्पण किया था तथा पुराने मन्दिर में निवास किया था । इसलिये यह सभागार उनके नाम पर ही समर्पित है । १२ से १४ फरवरी तक के सभी कार्यक्रम इसी सभागृह में आयोजित किये गये थे । यह ध्यान-मन्दिर जैसा है । इसमें पुराने मन्दिर के श्रीठाकुर, श्रीमाँ एवं स्वामीजी के चित्र भी स्थापित किये गये हैं । स्वामी शिवानन्द जी एवं स्वामी अखण्डानन्द जी के पुराने चित्र नये मन्दिर के गर्भगृह में प्रतिष्ठित किये गये हैं । १० फरवरी को ही मुख्य पाण्डाल में ९.३० से १०.३० बजे तक स्वामी तद्युक्तानन्द जी महाराज के भजन एवं १०.३० से १२ बजे तक पं. कृष्णानन्द शर्मा, इलाहाबाद के बड़े ही भावपूर्ण 'दरशन दीजै, गिरिधर के संग राती, मदन गोपाल, ऐसो जन्म न बारम्बार आदि भजन हुये । दोपहर २.३० से ४.३० बजे तक रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के विवेकानन्द विद्यापीठ के छात्रों ने 'स्वामी विवेकानन्द' नाटक और नृत्य आदि प्रस्तुत कर सबको मुग्ध कर दिया । सायं ५ से ६.३० बजे तक जनसभा हुई, जिसका विषय था – '**आधुनिक युग और रामकृष्ण-विवेकानन्द**' । सभा की अध्यक्षता रामकृष्ण संघ के महाध्यक्ष स्वामी गहनानन्द जी महाराज ने की । इसमें वक्ता थे – स्वामी गोकुलानन्द जी, स्वामी गौतमानन्द जी, स्वामी शिवमयानन्द जी और स्वामी सत्यरूपानन्द जी । शाम को ७ बजे से ८.३० बजे तक स्वामी सर्वगानन्द जी ने भक्तिपूर्ण भजन प्रस्तुत किये ।

११ फरवरी, को सत्र का आरम्भ ब्रह्मचारी तन्मय चैतन्य के भजन से हुआ । प्रात: ८ बजे से ८.४५ तक विवेकानन्द विद्यापीठ, रामकृष्ण मिशन, नारायणपुर के प्राथमिक कक्षा के बच्चों ने सुस्पष्ट सुरों में सस्वर वेदपाठ कर सबको मंत्रमुग्ध कर दिया, जिसका निर्देशन वहाँ के प्राचार्य, स्वामी सर्वहितानन्द और ब्रह्मचारी तन्मय चैतन्य ने किया ।

८.४५ से धर्मसभा हुई, जिसकी अध्यक्षता स्वामी प्रभानन्द जी ने की । हिन्दू धर्म के वक्ता स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी ने हिन्दू धर्म की उदारता एवं विराटता पर प्रकाश डाला । जैन धर्म के वक्ता स्वामी ब्रह्मेशानन्द जी ने जैन धर्म की महानता तथा वर्तमान युग में उसकी प्रासंगिकता को रेखांकित किया । साथ ही उन्होंने वैदिक-संस्कृति एवं श्रमण-संस्कृति की समानता तथा उसकी सार्वजनीन प्रार्थना – '**णमो अरिहंताणम् ... मंगलम्**' की व्याख्या की । जैन धर्म के मूल सिद्धान्त अनेकान्तवाद, स्यादवाद, अहिंसा और अपरिग्रह से सदन को अवगत कराया । उन्होंने आज के युग में दिगम्बर जैन धर्म की महानता, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र, सम्यक् ज्ञान, तप और अन्त में क्षमा-याचना के महत्त्व को सुन्दर ढंग से समझाया । सिक्ख धर्म के वक्ता स्वामी शशांकानन्द जी ने '**जो बोले सो निहाल, बोलो सत् श्री अकाल**' – से अपना प्रवचन आरम्भ करते हुये कहा कि धर्म में विकृति नहीं आती, विकृति धर्म के अनुयाइयों में आती है । गुरुनानक जी का आविर्भाव हिन्दू धर्म में आगत कुसंस्कारों को ठीक करने के लिये हुआ था । व्यक्ति को बाह्याडम्बरों से हटकर भीतर की ओर ध्यान देना चाहिये । सिक्ख धर्म की प्रमुख प्रार्थना – '**एक ओंकार, सतनाम ... नानक होसी भी सच**' का तात्पर्य समझाया तथा गुरुग्रन्थ-वाणी का उद्धरण प्रस्तुत किया – **नानक दुखिया सब संसारा । सुखिया केवल नाम अधारा ।।** इस्लाम धर्म के वक्ता डॉ. मोइन काजी ने कहा कि कुरान मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है । ईसाई धर्म के वक्ता डॉ. डी. जॉन चेल्लादुरई ने कहा कि ईसा मसीह ईसाई नहीं थे, बल्कि वे एक यहूदी थे । ईसा मसीह ने जगत में प्रेम, अहिंसा और सेवा का प्रचार किया । ईसा मसीह ने कहा – 'ईश्वर से प्रेम करो । किसी दूसरे की हिंसा मत करो । किसी दूसरे की वस्तु की चोरी मत करो । अपने शत्रु को भी प्यार करो । शत्रुता के परे जाओ । विनम्र बनो और सबसे प्रेम करो । ईश्वर का राज्य तुम्हारे हाथों में होगा । तुम ईश्वर के राज्य को प्राप्त करोगे ।' बौद्ध धर्म के वक्ता थे डॉ. एम. शिवरामकृष्णन । उन्होंने उक्त धर्म के विविध रोचक प्रसंगों का उल्लेख किया ।

सभा के बाद नागपुर के ही श्री शंकर भट्टाचार्य का सरोद-वादन हुआ तथा भोजन-विश्रामोपरान्त २.१५ से ३.३० तक श्री अनिरुद्ध पाण्डेय, नागपुर ने भजन प्रस्तुत किये ।

सायं ५ बजे से ६.३० बजे तक जन-सभा हुई, जिसका विषय था – '**स्वामी विवेकानन्द जी का सेवा-आदर्श**' । सभा के अध्यक्ष स्वामी चिन्मयानन्द जी ने अपने उच्च चिन्तन के माध्यम से आधुनिक समाज की विवशता 'हाय-हाय की संस्कृति' से अवगत कराया तथा रोचक दृष्टान्त देकर श्रोताओं का मनोरंजन किया । अन्य वक्ता स्वामी

राघवेशानन्द जी, स्वामी गिरिजेशानन्द जी एवं स्वामी आत्मप्रियानन्द जी ने भी बड़े सारगर्भित व्याख्यान दिये । डॉ. केदारनाथ लाभ ने कहा कि स्वामी ब्रह्मस्थानन्द जी ने नागपुर और विदर्भ को रामकृष्ण-मन्दिर रूपी कोहिनूर दिया है, जिससे यहाँ लोगों को सर्वदा अध्यात्म की प्रेरणा मिलती रहेगी । उन्होंने पटना आश्रम की एक घटना का उल्लेख किया । पटना के कुछ मंत्रियों ने तत्कालीन सचिव स्वामीजी से कहा कि महाराज हम लोगों के योग्य कोई सेवा हो, तो नि:संकोच कहें । तब स्वामीजी ने कहा कि सन्त देने के लिये आता है, लेने के लिये नहीं । श्री लाभ ने उत्तर प्रदेश के शुकताल में विराजित गत वर्ष महासमाधि-प्राप्त १२९ वर्षीय कर्मयोगी स्वामी कल्याणदेव जी के सेवा-कार्यों का उल्लेख किया, जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी का देहरादून में दर्शन कर उनसे निष्काम कर्म की साक्षात् प्रेरणा प्राप्त की थी ।

१२ फरवरी को संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों को स्थानीय तीर्थ-यात्रा करायी गयी । यात्रा बस से प्रात: ५ बजे से प्रारम्भ हुई । सर्वप्रथम सन्तों ने तोतापुरी जी के मठ से सम्बन्धित नागपुर के प्रसिद्ध तेलंखेड़ी हनुमान जी का दर्शन किया । कोराड़ी में महालक्ष्मी-देवी का दर्शन एवं अल्पाहार, रामटेक में राम-सीता एवं लक्ष्मण जी के दर्शन हुए । कामठी के श्रीरामकृष्ण संस्कृति पीठ में भोजन-विश्राम हुआ तथा बच्चों द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये । लौटते समय संतों ने 'ड्रगन पैलेस' बुद्ध-मन्दिर का दर्शन किया तथा वहाँ बुद्ध-आरती में सम्मिलित हुये । शाम को सभी पुन: नागपुर आश्रम में वापस आ गये ।

१३ जनवरी को प्रात: ५ बजे से पाँच बसों में संतों ने तीर्थयात्रा हेतु प्रस्थान किया । उन लोगों ने सर्वप्रथम लगभग ९ बजे अमरावती में प्रसिद्ध अम्बा देवी का दर्शन किया, जहाँ श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का अनुरक्षण किया था । अमरावती से लगभग १० संत रामकृष्ण संघ में सम्मिलित हुए हैं, यह इस उर्वरा भूमि की विशेषता है । श्रीरामकृष्ण सेवा समिति, अमरावती ने संतों के अल्पाहार एवं दुग्ध आदि की अच्छी व्यवस्था की । वहाँ से संतों की टोली अकोला के श्रीरामकृष्ण आश्रम में पहुँची । महाराष्ट्र का भक्तिपूर्ण यति-पूजन एवं दोपहर का प्रसाद उसी आश्रम में सम्पन्न हुआ । किंचित् विश्राम के बाद संत-तीर्थ-यात्री भारत के विख्यात् संत गजानन महाराज के दर्शनार्थ शेगाँव के लिये प्रस्थान किये । इस पावन तीर्थ-स्थान पर रामकृष्ण संघ के द्वादश महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज का ७ बार आगमन हुआ था । ४.३० बजे संतगण शेगाँव पहुँचे । वहाँ भक्त-निवास में सबके रहने की अति उत्तम व्यवस्था थी । एक भव्य शोभायात्रा के साथ संतों का स्वागत हुआ । आगे-आगे दो हाथियों पर संत गजानन महाराज के बड़े-बड़े चित्र थे । दोनों ओर वारकरी विद्यालय के बच्चे सुरीले भजन गाते एव वाद्य बजाते हुये चल रहे थे । बीच में संन्यासी एवं ब्रह्मचारीवृन्द थे । वह बड़ा ही मुग्धकारी दृश्य था ! सभी संतों ने क्रमश: संत गजानन महाराज की समाधि-स्थल एवं उनसे सम्बद्ध अन्य स्थानों का दर्शन किया तथा संस्थान द्वारा संतों को उपहार दिया गया । वारकरी शिक्षण-संस्थान के सभी गायक-बच्चों ने भजन-नृत्य करते हुये सभी संतों की परिक्रमा की । इसी के साथ वह झाँकी गजानन महाराज के मन्दिर में जाकर समाप्त हुई । शाम को सभी 'आनन्द सागर' देखने गये । वहाँ संत-दर्शन तथा भारतीय संगीत पर आधारित रंगीन प्रकाशमय जलधारा के मुग्धकारी दृश्य ने सन्तों के मन को सम्मोहित कर दिया । रात्रि का भोजन भी 'आनन्द सागर' में ही हुआ तथा बस से पुन: भक्त-निवास आकर रात्रि-विश्राम हुआ ।

१४ फरवरी को सबने संत गजानन महाराज संस्थान द्वारा संचालित प्रसिद्ध इंजिनियरिंग कॉलेज के अनेकों विभागों का अवलोकन किया । वहाँ के आदिवासी आश्रम स्कूल के बच्चों ने बैंड वाद्य सहित एन.सी.सी. परेड, योगासन, रिंग-नृत्य एवं विविध सांस्कृतिक कार्यक्रमों को प्रस्तुत कर संतों को आनन्दित किया । सभी विभागों के देखने के बाद वहाँ के सभागार में एक सभा हुई । बेलूड़ मठ से आगत सबसे वरिष्ठ संन्यासी स्वामी वैद्यनाथानन्द जी महाराज ने सभा को सम्बोधित किया एवं चार बच्चों को पुरस्कृत कर विशेष आशीर्वाद दिया । संस्थान के स्वनामधन्य अध्यक्ष भाऊ शिवशंकर पाटिल ने अत्यन्त विनम्रता से संस्थान के संक्षिप्त इतिहास एवं वर्तमान गतिविधियों से सबको अवगत कराया तथा सबको पुन: स्व-चरण-धूलि देने का निवेदन किया । उसके बाद मंदमति विद्यालय एवं अन्य बच्चों ने गीत-नृत्य एवं लघु-नाटिका प्रस्तुत किया । संतों ने भक्त-निवास में ही भोजन-विश्राम के बाद शाम पाँच बजे आनन्द-सागर का परिभ्रमण किया एवं वहाँ के ध्यान-मन्दिर में ध्यान किया । रात्रि ८ बजे आनन्द-सागर के भोजनालय में भोजनोपरान्त संतों ने लगभग रात्रि १० बजे वहाँ से नागपुर के लिये प्रस्थान किया । प्रात: ५ बजे नागपुर-आश्रम में पहुँचे एवं अपने-अपने प्रस्थान की तैयारी में लग गये । इस प्रकार इस तीर्थ-यात्रा के साथ ही नागपुर की ऐतिहासिक मन्दिर-प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई ।

(प्रस्तुति – स्वामी प्रपत्यानन्द)

फोटोग्राफ्स

पोरबन्दर में राष्ट्रपति

रामकृष्ण मिशन, पोरबन्दर गुजरात में राष्ट्रपति द्वारा 'विवेक' का उद्घाटन

१२ जनवरी, २००६ को राष्ट्रीय युवा-दिवस के अवसर पर भारत के महामहिम राष्ट्रपति डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम ने युवकों को सम्बोधित करते हुये कहा - **'स्वामी विवेकानन्द जी के सन्देश आधुनिक युवकों के लिये बहुत ही प्रासंगिक है। उनका सन्देश युवकों के मन को अदम्य उत्साह से परिपूर्ण कर देगा।'** उक्त विचार महामहिम राष्ट्रपति ने **रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द मेमोरियल, पोरबन्दर** द्वारा आयोजित युवा-सम्मेलन में व्यक्त किये, जिसमें भाग लेने को ५००० युवक उपस्थित थे।

इस अवसर पर उन्होंने कुछ चुने हुए प्रश्नों के उत्तर भी दिये। उनके द्वारा प्रदत्त सम्पूर्ण व्याख्यान और प्रश्नोत्तर वेबसाइट WWW. presidentofindia.nic.in पर उपलब्ध हैं। स्वामी विवेकानन्द जी के जयन्ती के उपलक्ष्य में आयोजित वार्षिक प्रतियोगिता में सम्मिलित हजारों में से चयनित १४ छात्रों को उन्होने पुरस्कृत भी किया और आश्रम के क्रिया-कलापों में आर्थिक या अन्य प्रकार से सहयोग देनेवाले १६ चयनित व्यक्तियों को सम्मानित किया।

महामहिम राष्ट्रपति जी ने आज ही 'विवेकानन्द इंस्टिट्यूट ऑफ वैल्यू एजुकेशन एन्ड कल्चर' (विवेक) Vivekananda Institute of Value Education and Culture (VIVEC) का उद्घाटन भी किया तथा उन्होंने रामकृष्ण मठ तथा मिशन, बेलूड़ मठ के न्यासी, सहायक महासचिव स्वामी सुहितानन्द जी के करकमलों से आश्रम द्वारा प्रकाशित परिचय पत्रक 'विवेक' की प्रथम प्रति तथा अन्य प्रकाशित निम्नलिखित पुस्तकें भी प्राप्त कीं -

१. To the Youth of India (राष्ट्रपति डॉ. कलाम द्वारा १३ फरवरी २००२ को पोरबन्दर में प्रदत्त व्याख्यान)

२. To the Youth of India (गुजराती संस्करण)

३. व्यक्तित्व-विकास (गुजराती में)

सभा में उपस्थित सभी लोगों द्वारा समवेत स्वर में स्वामी विवेकानन्द जी के प्रेरक सन्देश की आवृत्ति करते समय पूरा परिवेश स्वामी विवेकानन्द के विचारों से उद्दीप्त हो गया। समारोह में उपस्थित सभी युवकों को राष्ट्रपतिजी ने दस शपथ दिलाये।

इसके पूर्व स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी ने इस अवसर पर उपस्थित भारत के माननीय राष्ट्रपति, गुजरात के राज्यपाल, अन्य गण्यमान्य नागरिकों, सरकारी पदाधिकारियों तथा गुजरात के विभिन्न शिक्षण-संस्थानों से आगत अध्यापकों तथा छात्रों का स्वागत किया और कहा कि आज का दिन तीन प्रकार से महत्वपूर्ण है - पहला आज स्वामी विवेकानन्द जी का जन्मदिन है। दूसरा आज एक नये शिक्षण-संस्थान (विवेक) का जन्म हो रहा है और तीसरा पोरबन्दर में डॉ. कलाम जी का भारत के राष्ट्रपति के रूप में पहली आगमन हुआ है। जब १३-२-२००२ को राष्ट्रपति जी पोरबन्दर आये थे, तब उन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी की जयन्ती में सम्मिलित होने का वचन दिया था और इस वचन को पूर्ण करने पर स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी ने महामहिम राष्ट्रपति जी के प्रति हर्ष और कृतज्ञता ज्ञापित की।

राष्ट्रपति जी ने ४.४० बजे आश्रम-परिसर में पदार्पण किया। ४.४१ पर वृक्षारोपण किया। ४.४३ पर 'विवेकानन्द इंस्टिट्यूट ऑफ वैल्यू एजुकेशन एन्ड कल्चर' (विवेक) Vivekananda Institute of Value Education and Culture (VIVEC) का का उद्घाटन सम्पन्न किया। समारोह में उपस्थित थे - स्वामी सुहितानन्द, स्वामी आदिभवानन्द, स्वामी ध्रुवेशानन्द, स्वामी निखिलेश्वरानन्द, स्वामी अव्ययात्मानन्द, स्वामी ईशमयानन्द, स्वामी चिरन्तनानन्द, श्री रामजीभाई मनवर, श्री प्रवीणभाई सोलंकी। ४.४५ पर उपरोक्त सभी लोगों ने राष्ट्रपति जी के साथ 'विवेक' का परिभ्रमण किया।

४.५० में आर्य कन्या गुरुकुल के विद्यार्थियों ने राष्ट्रगान किया। उसके बाद रामकृष्ण संघ के संन्यासी-ब्रह्मचारियों ने मंगल-पाठ किया। उसके बाद महामहिम राष्ट्रपतिजी को गुलदस्ता और स्मृति चिह्न प्रदान किये गये। स्वामी अव्ययात्मानन्द जी ने महामहिम राज्यपाल को गुलदस्ता भेंट किया। ५ बजकर ९ मिनट पर राष्ट्रपति जी ने चयनित विद्यार्थियों और व्यक्तियों को उपहार प्रदान किया। श्रीमती सुरभि वाइ. चोटाइ ने स्वामी विवेकानन्द के सन्देश पर व्याख्यान दिया। ५.२६ में राष्ट्रपति जी ने सभा को सम्बोधित किया। ६.०६ बजे स्वामी अव्ययात्मानन्द जी ने धन्यवाद ज्ञापन किया। आर्य कन्या गुरुकुल के विद्यार्थियों के राष्ट्रगान से सभा समाप्त हुई। ६.१० बजे महामहिम राष्ट्रपति जी ने विवेक से प्रस्थान किया। (राष्ट्रपति जी का पूरा व्याख्यान अगले किसी अंक में प्रकाशित किया जायेगा।)